प्रकाशक :

अखिल भा. जैन युवा फैडरेशन-खैरागढ़

श्री कहान स्मृति प्रकाशन - सोनगढ़

श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रंथमाला का पहला पुष्प

जैनधर्म की कहानियाँ

(भाग – १)

लेखक :

ब्र. हरिभाई सोनगढ़

अनुवादक :

सौ. स्वर्णलता जैन एम.ए., नागपुर

सम्पादक :

पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर

प्रकाशक :

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन

महावीर चौक, खैरागढ़ – ४९१ ८८१ (मध्यप्रदेश)

और

श्री कहान स्मृति प्रकाशन

सन्त सान्निध्य, सोनगढ़ – ३६४२५० (सौराष्ट्र)

प्रथम चार आवृत्ति - 20,000 प्रतियाँ
पंचम आवृत्ति - 5,000 प्रतियाँ
(ग्वालियर में आयोजित प्रतिष्ठा एवं गजरथ महोत्सव के अवसर पर)
दिनांक 13 से 19 जनवरी तक, 2003

न्यौछावर – सात रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान –

- **अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन,**
  शाखा – खैरागढ़
  श्री खेमराज प्रेमचंद जैन, 'कहान-निकेतन'
  खैरागढ़ – 491881, जि. राजनाँदगाँव (म.प्र.)

- **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**
  ए-4, बापूनगर, जयपुर – 302015

- **ब्र. ताराबेन मैनाबेन जैन**
  'कहान रश्मि', सोनगढ़ - 364250
  जि. भावनगर (सौराष्ट्र)

टाईप सेटिंग एवं मुद्रण व्यवस्था –

जैन कम्प्यूटर्स,
श्री टोडरमल स्मारक भवन, मंगलधाम,
ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015
फोन : 0141-2700751
फैक्स : 0141-2709865

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रभावित आध्यात्मिक क्रान्ति को जन-जन तक पहुँचाने में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का योगदान अविस्मरणीय है, उन्हीं के मार्गदर्शन में अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की स्थापना की गई है। फैडरेशन की खैरागढ़ शाखा का गठन 26 दिसम्बर, 1980 को पण्डित ज्ञानचन्दजी, विदिशा के शुभ हस्ते किया गया। तब से आज तक फैडरेशन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इस शाखा के माध्यम से अनवरत हो रही है।

इसके अन्तर्गत सामूहिक स्वाध्याय, पूजन, भक्ति आदि दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन, साहित्य विक्रय, श्री वीतराग विद्यालय, ग्रन्थालय, कैसेट लायब्रेरी, साप्ताहिक गोष्ठी आदि गतिविधियाँ उल्लेखनीय हैं; साहित्य प्रकाशन के कार्य को गति एवं निरंतरता प्रदान करने के उद्देश्य से सन् 1988 में श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला की स्थापना की गई।

इस ग्रन्थमाला के परम शिरोमणि संरक्षक सदस्य 21001/- में, संरक्षक शिरोमणि सदस्य 11001/- में तथा परमसंरक्षक सदस्य 5001/- में भी बनाये जाते हैं, जिनके नाम प्रत्येक प्रकाशन में दिये जाते हैं।

पूज्य गुरुदेव के अत्यन्त निकटस्थ अन्तेवासी एवं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन उनकी वाणी को आत्मसात करने एवं लिपिबद्ध करने में लगा दिया – ऐसे ब्र. हरिभाई का हृदय जब पूज्य गुरुदेवश्री का चिर-वियोग (वीर सं. 2506 में) स्वीकार नहीं कर पा रहा था, ऐसे समय में उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री की मृत देह के समीप बैठे-बैठे संकल्प लिया कि जीवन की सम्पूर्ण शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग गुरुदेवश्री के स्मरणार्थ ही खर्च करूँगा।

तब श्री कहान स्मृति प्रकाशन का जन्म हुआ और एक के बाद एक गुजराती भाषा में सत्साहित्य का प्रकाशन होने लगा, लेकिन अब हिन्दी, गुजराती दोनों भाषा के प्रकाशनों में श्री कहान स्मृति प्रकाशन का सहयोग प्राप्त हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप नये-नये प्रकाशन आपके सामने हैं।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत् जैनधर्म की कहानियाँ भाग 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10, 11, 12,13,14 एवं लघु जिनवाणी संग्रह : अनुपम संग्रह, चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी-गुजराती), पाहुड़ दोहा-भव्यामृत शतक-आत्मसाधना सूत्र, विराग सरिता तथा लघुतत्त्वस्फोट – इसप्रकार इक्कीस पुष्प प्रकाशित किये जा चुके हैं।

पहले पुष्प का यह पंचम संस्करण प्रकाशित कर हम इस बात पर अत्यन्त गौरव अनुभव कर रहे हैं कि इन कहानियों के माध्यम से बाल-युवा-वृद्ध सभी भरपूर लाभ ले रहे हैं। इस भाग में पुराण पुरुषों के भव-भवान्तरों के आधार पर तत्त्वज्ञान से आपूरित, वैराग्य एवं ज्ञानबर्द्धक 25 कहानियाँ दी जा रही हैं। जिनका सम्पादन पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर ने किया है। अत: हम आपके आभारी हैं।

आशा है पुराण पुरुषों की कथाओं से पाठकगण अवश्य ही बोध प्राप्त कर सन्मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल करेंगे।

जैन बाल साहित्य अधिक से अधिक संख्या में प्रकाशित हो – ऐसी भावी योजना है। इसी के अर्न्तगत् जैनधर्म की कहानियाँ भाग-15 शीघ्र आ रहा है। तथा अब शीघ्र ही "**जैन कामिक्स**" के प्रकाशन की योजना आरम्भ कर रहा है।

साहित्य प्रकाशन फण्ड, आजीवन ग्रन्थमाला शिरोमणि संरक्षक, परमसंरक्षक एवं संरक्षक सदस्यों के रूप में जिन दातार महानुभावों का सहयोग मिला है, हम उन सबका भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं, आशा करते हैं कि भविष्य में भी सभी इसी प्रकार सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

विनीत:

मोतीलाल जैन	प्रेमचन्द जैन
अध्यक्ष	**साहित्य प्रकाशन प्रमुख**

आवश्यक सूचना

पुस्तक प्राप्ति अथवा सहयोग हेतु राशि ड्राफ्ट द्वारा
"**अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़**" के नाम से भेजें।
हमारा बैंक खाता स्टेट बैंक आफ इण्डिया की खैरागढ़ शाखा में है।

पण्डितजी और दुकानदार

यह बहुत वर्ष पहले की घटना है। एक थे पण्डितजी....... काशी में रहते थे, जैनसिद्धान्त के बड़े अभ्यासी थे। एकबार वे बंबई के बाजार में पूजा के लिए स्टील के बर्तन खरीदने गये। उस जमाने में स्टील के बर्तनों के एक सेट की कीमत साढ़े 9॥ आना हुई। भाव में कुछ कोर-कसर निकालने के उद्देश्य से पण्डितजी ने दुकानदार से कहा– "भाई दो पैसे कम ले लो, साढ़े 9॥ आना के बदले 9 आना ले लो।"

दुकानदार बोला– "पण्डितजी ! आप भगवान की पूजा करने के लिये ये बर्तन ले जा रहे हो, भगवान तो तुम्हें बहुत पैसा देगा ! फिर दो पैसे का लोभ क्यों करते हो?"

पण्डितजी भी कम नहीं थे, उन्होंने भी दुकानदार को अच्छा-खासा युक्तियुक्त जवाब देने की सोची।..... वे कुछ बोले बिना, पैसे भी दिये बिना, जैसे के तैसे बर्तनों को अपनी थैली में डालकर चलने लगे।

दुकानदार तो चक्कर में आ गया....घबड़ाते हुए पण्डितजी को याद कराते हुए बोला– "अरे पण्डितजी ! पैसे तो देते जाओ।"

पण्डितजी बोले– "भाई ! ये बर्तन तो मैं भगवान की पूजा करने के लिए ले जा रहा हूँ। तुमने ही अभी कहा था कि भगवान बहुत पैसे देंगे, तुम्हारे बर्तन से मैं भगवान की पूजा करूँगा, उससे भगवान तुम्हें भी बहुत पैसे देंगे। फिर मुझसे साढ़े 9॥ आना भी लेने की क्या जरूरत है ?" पण्डितजी के इस सरस और युक्तियुक्त जवाब को सुनकर वह नतमस्तक हो गया। पण्डितजी द्वारा ईश्वरकर्तृत्व का खण्डन इतने सरल व सहज तरीके से सुनकर वह व्यापारी अत्यन्त प्रभावित हुआ।

बाद में तो पण्डितजी ने दुकानदार को पूरे पैसे दिये और उसे युक्ति में समझाया– "**भाई ! भगवान मुझे या तुझे कुछ देता नहीं है। भगवान तो पूर्ण सुखस्वरूप दशा को प्राप्त परमात्मा हैं।** वे पूजा से प्रसन्न होकर कुछ देते नहीं हैं, और निंदा करनेवाले को कोई सजा नहीं देते। हम भी भगवान से कुछ लेने के लिए उनकी पूजा नहीं करते। हम तो पूजा के द्वारा उनके गुणों के प्रति बहुमान प्रगट करते हैं। उससे हमारे परिणाम की जितनी विशुद्धि हो, उतना हमें लाभ है।"

(बनारस के यह पण्डितजी थे – पण्डित फूलचंदजी सिद्धान्तशास्त्री, उन्होंने यह प्रसंग फतेपुर (गुजरात) में हुई जिनबिम्ब प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसंग पर सुनाया था।) ●

मुनिराज, सुअर और वाघ

(अहिंसा धर्म की कहानी)

एक जंगल की एक रमणीक गुफा में एक भद्रपरिणामी सुअर रहता था। उस जंगल में एक वाघ भी रहता था, वह क्रूरपरिणामी था।

एक वीतरागी मुनिराज विचरण करते हुए, उस जंगल में आये और जिस गुफा में सुअर रहता था, उस गुफा में विराजमान होकर शुद्धोपयोग के द्वारा आत्मध्यान करने लगे।

मुनिराज को गुफा में देखकर– भद्रपरिणामी सुअर को ऐसा शुभ विचार आया कि अहो ! यह कोई वीतरागी महात्मा मेरी गुफा में पधारे हैं, उन्हें देखकर मुझे अपूर्व शान्ति मिली, इनके पधारने से मेरी गुफा धन्य हुई। मैं किसप्रकार इनकी सेवा करूँ –ऐसे शुभभावपूर्वक वह सुअर गुफा के दरवाजे पर बैठकर मुनिराज की रक्षा करने लगा।

उसी समय गुफा के पास आते हुए वाघ को ऐसा अशुभभाव आया कि मैं इस मनुष्य (मुनिराज) को मारकर खा जाऊँ।

तथा वहाँ स्थित शुद्धोपयोग में लीन वे मुनिराज, न तो सुअर के ऊपर राग करते हैं और न ही वाघ के ऊपर द्वेष करते हैं, वे तो सच्चे वीतरागी सन्त थे।

मुनिराज को खाने के लिए वह वाघ गुफा के पास आया है। –ऐसा ख्याल सुअर को आते ही वह तुरन्त ही बीच में आकर वाघ को रोकने का प्रयास करता है।

वाघ उस पर टूट पड़ा....वाघ और सुअर दोनों लड़ने लगे, खूब लड़े, क्रूर वाघ के सामने भी सुअर ने बराबर की टक्कर ली, उसके मन में एक ही धुन थी कि प्राण देना पड़े तो भी मैं मुनिराज को बचाऊँगा। दोनों बहुत लड़े, एक तो मुनिराज के रक्षण के लिए लड़ता है और दूसरा मुनि के भक्षण के लिए लड़ता है।

लड़ते-लड़ते दोनों ने एक-दूसरे को मार डाला.....दोनों में से वाघ तो मरकर दुर्गति में गया और सुअर मरकर सुगति में गया। मुनिराज तो ध्यान में ही वीतरागभाव से विराजे रहे और केवलज्ञान प्रगटाकर पंचमगति (मोक्षगति) को प्राप्त हुये।
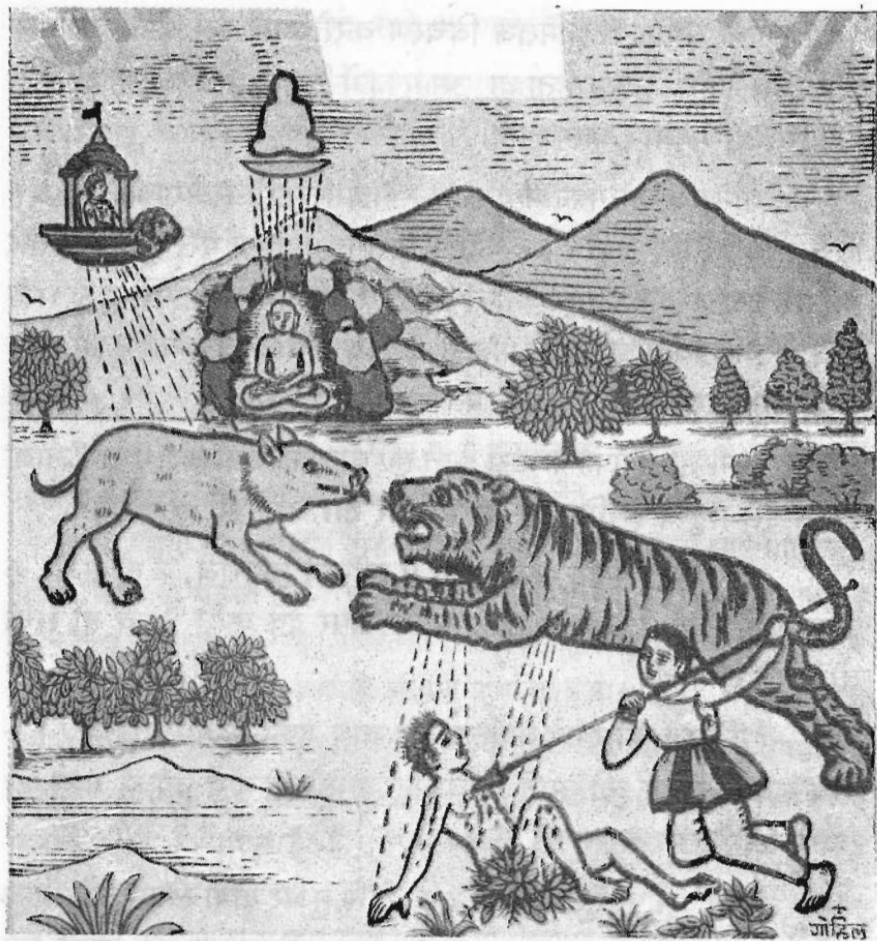
इस दृष्टान्त में तीन पात्र है– १. सुअर का जीव : जिसे कषाय में मुनि को बचाने का प्रशस्त राग वर्तता है। २. वाघ का जीव : जिसे कषाय में मुनि को मारने का अप्रशस्त द्वेष वर्तता है। ३. मुनिराज : जो अकषाय वीतराग भाव में वर्तते हैं।

अब इसमें हिंसा-अहिंसा किसप्रकार है– इसका विचार करते हैं।

जब हम सुअर और वाघ के परिणामों की तुलना करते हैं, तब वाघ की अपेक्षा सुअर का भाव अच्छा दिखाई देता है। तथा वाघ की अपेक्षा सुअर की हम प्रशंसा भी करते हैं।

वाघ के द्वारा मुनि की हिंसा नहीं हुई, फिर भी वाघ को अपने क्रूर परिणाम के कारण हिंसा का पाप लगा और वह दुर्गति में गया। सुअर के द्वारा वाघ की हिंसा हुई, फिर भी वह अपने शुभ परिणाम के कारण सुगति में गया। इसलिए मात्र बाह्य में जीवों का मरना या बचना वह हिंसा-अहिंसा नहीं है, बल्कि जीवों के भावों के अनुसार ही हिंसा-अहिंसा है।

इस दृष्टान्त में मुनि की हिंसा भले ही न हुई हो तो भी वाघ द्वारा मुनि को मार डालने के हिंसकभाव को तो किसी प्रकार से भी अच्छा नहीं कहा जा सकता। मुनि को मारने की अपेक्षा से मुनि को बचाने का रागभाव ही प्रशंसनीय कहा जायेगा। – लेकिन –

अभी भी अपनी बात अधूरी है, क्योंकि अभी तक तो हमने केवल सुअर और वाघ के भावों की तुलना की है, लेकिन तीनों पात्रों को मिलाकर तुलना करना बाकी है।

जब हम मुनिराज को भी साथ में रखकर विचार करते हैं, तब हमें पता चलता है कि वीतरागभाव में विराजमान मुनिराज का भाव ही श्रेष्ठ भाव है, वही अत्यंत प्रशंसनीय है और उस वीतरागी भाव की तुलना में सुअर का प्रशस्तराग भी प्रशंसनीय नहीं है।

मुनिराज का वीतरागभाव ही परम अहिंसारूप होने से उसकी हम प्रशंसा करते हैं और वह ही मोक्ष का कारण है। उस वीतरागभाव के सामने सुअर के रागभाव को हम 'परम' अहिंसा नहीं कह सकते, अपितु उसे भी 'हिंसा की कक्षा में ही रखा जायेगा। भले ही उस राग को 'प्रशस्त' विशेषण लगावें, तो भी उसे हिंसा तो कहना ही पड़ेगा, क्योंकि जितना राग है, उतनी हिंसा है।

पीतल को प्रशस्त विशेषण लगावें और 'प्रशस्त पीतल' ऐसा कहें, तब भी उसे 'स्वर्ण' की जाति में तो नहीं रख सकते। जैसे कोई रागादि रूप हिंसा को प्रशस्त विशेषण लगावे, लेकिन इससे वह अहिंसा तो नहीं हो जावेगी।

अतः शुभरागवाला वह सुअर का जीव भी आगे चलकर जिस समय राग का अभाव करके चैतन्यभाव प्रगट करेगा, उसी समय वह वीतरागभावरूप 'अहिंसा' धर्म के द्वारा मोक्ष को साधेगा। यही **'अहिंसा परमो धर्मः'** का स्वरूप है।

मुनि के वीतरागभाव को और सुअर के रागभाव को हमने एक कक्षा में नहीं रखा, क्योंकि दोनों की जाति एक-दूसरे से विरुद्ध है।

मुनि को मारने के भाव की अपेक्षा, बचाने का भाव उत्तम होते हुए भी दोनों की कक्षा एक है। जैसे एक ही वर्ग में पढ़नेवाले विद्यार्थियों में एक पहले नम्बर पास होवे और दूसरा आखरी नम्बर पास होवे, तो भी दोनों की कक्षा एक ही है।

वाघ और सुअर दोनों में जितना रागादि कषाय भाव है, उतनी हिंसा है तथा जो हिंसा है, वह अहिंसा नहीं, इसलिए धर्म भी नहीं।

मुनिराज का वीतराग भाव, वह अहिंसा है और वही धर्म है। ऐसे वीतरागी अहिंसा धर्म की जय हो।

जिस सीता के विरह में श्री राम पागल जैसे हो गये थे, उसी सीता द्वारा ललचाये जाने पर भी श्री रामचन्द्रजी विषय-भोगों के प्रति ललचाये नहीं।

श्री रामचन्द्रजी मुनि होकर जब निजस्वरूप की साधना कर रहे थे, तब प्रतेन्द्र हुए सीता के जीव ने उन्हें डिगाने की अनेक चेष्टाएँ कीं; लेकिन रामचन्द्रजी अपने निज स्वरूप की साधना में दृढ़ रहे और केवलज्ञान प्रगट किया।

सिंह और बन्दर की कहानी

(इस चित्र में वृक्ष के ऊपर एक बन्दर बैठा है, नीचे जमीन पर उसकी छाया पड़ रही है, वहीं पास में एक भूखा सिंह खड़ा है। फिर क्या होता है– यह जानने के लिए आगे की तीन कहानियाँ पढ़ें।)

१. मूर्ख सिंह और समझदार बन्दर

आत्मा सिंह के समान शूरवीर है, फिर भी वह अपने को भूलकर अज्ञान के कारण दुखी होता है– इसी बात का ज्ञान हमें इस बोधि-चित्र से होता है।

एक था सिंह, उसे भूख लगी। जंगल में एक वृक्ष के ऊपर एक बन्दर बैठा था, नीचे उसकी छाया पड़ रही थी, उस छाया को देखकर सिंह को विचार आया मुझे अच्छा शिकार मिला, परन्तु बन्दर तो ऊपर बैठा था, अतः सिंह ने बन्दर की छाया को ही बन्दर मान कर बन्दर की छाया पर झपट्टा मारा। उसी समय डाल पर बैठा हुआ बन्दर, सिंह को संबोधन करता हुआ कहता है–

"अरे, जंगल के राजा ! मैं तो यहाँ डाल पर बैठा हूँ। यह जो नीचे छाया पड़ रही है, वह मैं नहीं हूँ, उससे तुम्हारा पेट भी नहीं भरेगा, इसलिए बेकार मेहनत मत करो। छाया पर तुम चाहे जितने झपट्टे मारो.......उससे तुम्हारे हाथ कुछ भी लगनेवाला नहीं है।"

बन्दर के इतने समझाने पर भी सिंह तो बन्दर की छाया पर पंजे मार-मार कर व्यर्थ कोशिश करता रहा और अन्त में परेशान होकर थक गया, लेकिन उसे कुछे भी नहीं मिला।

इसी प्रकार जगत के राजा के समान चैतन्य सिंह आत्मा को भी सुख की भूख लगी है। वह छाया के समान बाह्य विषयों से सुख की मांग करता है और विषयों की तरफ झपट्टे मार-मार दुखी होता है।

तब ज्ञानी उसे समझाते हैं–

"अरे जीव! सुख तो तेरी आत्मा में ही है। छाया समान शरीर में अथवा विषयों में सुख नहीं है, इसलिए तू बाहर में सुख की खोज मत कर। बाह्य-विषयों में तुम चाहे जितने मिथ्या प्रयत्न करो, लेकिन उनसे तुम्हें कभी भी सुख की प्राप्ति होगी नहीं।"

इसप्रकार यह बोधि-चित्र हमें भेदज्ञान कराकर सुख का सच्चा मार्ग बताता है।

२. समझदार सिंह और मूर्ख बन्दर

(नोट:- इसके पहिले आपने एक कहानी पढ़ी, उसमें सिंह और बन्दर की कहानी है। इस दूसरी कहानी में दूसरे ही बन्दर और सिंह हैं। पहली कहानी में सिंह मूर्ख था और बन्दर चालाक, लेकिन इस कहानी में बन्दर मूर्ख है और सिंह चालाक। ध्यान रहे, भेदज्ञानरूप तात्पर्य दोनों ही कहानियों में से समान रीति से प्रगट हो रहा है। उक्त कथायें गुरुदेव श्री के प्रवचनों के आधार से लिखी गई हैं। – सम्पादक)

एक वृक्ष के ऊपर एक बन्दर रहता था, वहाँ एक सिंह आया। उस सिंह के मन में बन्दर का शिकार करने का भाव आया, लेकिन वह बन्दर तो ऊँचे वृक्ष पर बैठा था, वह सिंह का शिकार कैसे बन सकता था। लेकिन सिंह चालाक था, उसने सोचा कि यह मूर्ख बन्दर जमीन पर पड़ रही उसकी छाया को ही स्वयं मान रहा है, इसलिए बन्दर के सामने सिंह ने जोर से गर्जना की और उसकी छाया के ऊपर पंजा मारा।

बन्दर अपनी छाया के ऊपर पंजे मारते देख घबरा गया। हाय......हाय....... सिंह मुझे पंजे मार रहा है– ऐसा सोच भयभीत होकर वह जल्दी ही नीचे गिर गया और सिंह ने उसे सचमुच में अपना शिकार बना डाला और उसका प्राणान्त हो गया।

उस मूर्ख बन्दर ने यह नहीं सोचा कि पंजे तो मेरी छाया को पड़ रहे हैं, मैं तो छाया से अलग वृक्ष के ऊपर सुरक्षित बैठा हूँ। देखो! बन्दर ने अज्ञान से छाया को ही अपना माना, इसलिए अपने प्राणों से हाथ धो बैठा।

वैसे ही इस जीव ने छाया के समान इस शरीर को अपना मान रखा है , अत: रागादि होने पर या मृत्युरूपी सिंह के पंजे पड़ते ही मूर्ख बन्दर के समान मूर्ख अज्ञानी जीव अपना ही मरण जानकर डरता है, भयभीत होता है कि हाय! मैं मर गया, हाय! मेरे शरीर में रोग हो गया।

लेकिन भाई! ये सब तो शरीर में हैं, तेरे में नहीं, तुम तो शरीर से

भिन्न अरूपी शाश्वत चैतन्यमूर्ति हो। चैतन्य के ऊँचे वृक्ष पर तेरा आत्मा तो सुरक्षित बैठा है, तेरे चैतन्य जीवन का कुछ भी बिगाड़ नहीं हुआ है, उसे कोई भी मार नहीं सकता।

इसप्रकार इस कहानी से यह बोध मिलता है कि– **"हे जीव ! तू शरीर से भिन्न आत्मा को जानकर निर्भय हो जा! जब आत्मा का मरण ही नहीं, तो डर किस बात का ?**

३. एक था सिंह और एक था बन्दर (अन्त में दोनों मित्र बन गये)

बहुत पुराने समय की बात है। एक सुन्दर जंगल था, उसमें पशु-पक्षी रहते थे। सिंह और बन्दर रहता था, हाथी और हिरण रहता था, सर्प और खरगोश रहता था।

वहाँ एक वृक्ष पर दो बन्दर रहते थे। एक बन्दर जवान था और दूसरा बूढ़ा। उस जंगल में एक भूखा सिंह शिकार की खोज कर रहा था, खोजते-खोजते वह उस वृक्ष के समीप आया। उसने वृक्ष के ऊपर दो बन्दरों को बैठे देखा, लेकिन वृक्ष के ऊपर तो सिंह पहुँच नहीं सकता था, फिर भी चालाक सिंह ने बन्दरों को पकड़ने की युक्ति खोज निकाली।

गर्मी के दिनों में भर-दोपहरी में वृक्ष के ऊपर बैठे बन्दरों की छाया नीचे पड़ती थी। जब सिंह ने देखा कि वृद्ध बन्दर छाया को ही अपनी मान रहा है, इसलिए सिंह ने बन्दर की ओर देखकर जोरदार गर्जना की और उसकी छाया पर जोर से पंजा मारा।

"हाय! हाय! सिंह ने मुझे पकड़ लिया" – ऐसा समझकर मूर्ख वृद्ध बन्दर भय से काँपते हुए नीचे गिर गया, तब सिंह ने उसे पंजे से पकड़ लिया, जिससे उसका मरण हो गया।

उसी समय युवा बन्दर वृक्ष के ऊपर निर्भय होकर बैठा रहा, वह वहाँ बैठा-बैठा सिंह की चेष्टाएँ देखता रहा।

तब युवा बन्दर ने विचार किया कि वह दूसरा बन्दर नीचे गिरकर मर क्यों गया और मैं क्यों नहीं मरा?

विचार करने पर उसे समझ में आया कि हाँ, ठीक ही तो है, वह वृद्ध बन्दर नीचे की छाया को अपनी मान रहा था, इसलिये छाया पर सिंह के द्वारा पंजा मारते ही वह अज्ञान से भयभीत होकर नीचे गिर गया और सिंह का शिकार बनकर मर गया, लेकिन मैंने छाया को अपनी नहीं माना, इसलिए मरण से बच गया।

इसके बाद उस युवा बन्दर ने ऐसा विचार किया कि सिंह ने मेरे दादा (वृद्ध बन्दर) को मूर्ख बनाया। अब मैं भी उसे उसकी मूर्खता का बोध कराऊँगा। वह सोच रहा था– "हे सिंह काका! तुम भी इसीप्रकार मूर्खता कर रहे हो।"

एकबार उसने उसी सिंह के पास जाकर कहा– "हे सिंह काका! तुम तो इस जंगल के राजा हो, परन्तु इसी जंगल में तुम्हारे जैसा दूसरा सिंह आया है। वह कहता है कि मैं इस जंगल का राजा हूँ, तुम नहीं हो।"

तब उस सिंह ने क्रोध में आकर कहा– " हमारे राज्य में हमारी सत्ता से इंकार करने वाला यह दूसरा सिंह कौन आया ? चलकर बताओ वह कहाँ रहता है? मैं उसकी खबर लूँगा।"

"काका! उस सामने के कुएँ में वह सिंह रहता है।"

बस! सिंह तो दौड़ा और कुंएँ में झाँककर देखा, उसे वहाँ उसके ही जैसा एक सिंह दिखाई दिया। वास्तव में वह तो उसकी ही छाया थी, वह कोई सच्चा सिंह नहीं था, फिर भी मूर्ख सिंह छाया को ही सच्चा सिंह समझकर क्रोध में अन्धा होकर कुएँ में गिर गया और अन्त में वह मूर्ख सिंह भी कुएँ में डूबकर मर गया।

इसप्रकार सिंह और बन्दर के समान अज्ञानी जीव इस छाया के

समान शरीर को अपना मानकर संसार में जन्म-मरण कर रहे हैं और वैसे ही भवरूपी कुएँ में गिरकर दुखी हो रहे हैं, लेकिन जो सच्चा ज्ञान कर शरीर से भिन्न अपनी आत्मा का स्वरूप जानते हैं, उनका जन्म-मरण नहीं होता।

कुछ दिनों बाद फिर से ऐसा बनाव बना कि पहले की घटना के समान ही उस जंगल में वृक्ष पर बन्दर बैठा था और वहाँ एक भूखा सिंह आया। सिंह ने देखा कि नीचे जो बन्दर की छाया हिलती-डुलती दिखाई दे रही है, वही बन्दर है। उसने छाया के ऊपर पंजा मारा। वह पंजा मारते-मारते थक गया, लेकिन उसके हाथ कुछ नहीं आया।

इसी प्रकार रुपये-पैसे में झपट्टे मार-मार कर यह जीव भी थक गया, फिर भी इसको थोड़ा-सा भी सुख नहीं मिला।

तब वृक्ष के ऊपर बैठे बन्दर ने कहा– "अरे सिंह राजा! जैसे मूर्खता तुम कर रहे हो, उसीप्रकार इसके पहले तुम्हारे दादा ने भी अपनी मूर्खता से अपने प्राण खो दिये थे। जैसे– तुम मेरी छाया को ही बन्दर समझकर उसके ऊपर पंजे मार रहे हो, उसीप्रकार तुम्हारे सिंह दादा ने भी कुएँ में अपनी छाया देखकर, उसे ही असली सिंह मान लिया था और उससे लड़ने के लिए कुएँ में छलाँग लगाकर डूब मरे थे।"

तब सिंह बोला– "अरे बन्दर भाई ! जैसे मेरे दादा ने भूल की थी, वैसे ही तुम्हारे दादा ने भी भूल की थी। एकबार तुम्हारे बन्दर दादा वृक्ष के ऊपर बैठे थे और नीचे उनकी छाया पर सिंह ने पंजा मारा, तब ऊपर बैठे तुम्हारे दादा घबरा गये और सिंह मुझे मार डालेगा, इस डर से नीचे गिर गये। उसी प्रकार तुम भी अभी नीचे गिरनेवाले हो।"

सिंह राजा की बात सुनकर बन्दर ने हँस कर कहा–

"अरे सिंह राजा ! वह जमाना (समय) गया, अब तो भेदविज्ञान का जमाना आ गया है। छाया को अपना मानने का जमाना बीत गया।

क्या तुम्हें पता नहीं कि मैं सोनगढ़ के आम्रवन में रहकर आया हूँ। इस सोनगढ़ (सौराष्ट्र) में एक सत्पुरुष (आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी) के प्रताप से भेद-विज्ञान की शीतल हवा बहती है।

वहाँ के मनुष्य तो जड़-चेतन का भेदज्ञान करनेवाले हैं और वही देखकर मेरे अन्तरंग में भी देह और आत्मा की भिन्नता की भावना जागृत हुई है। अब छाया को अपना मानकर प्राण गँवाने की मूर्खता का जमाना चला गया। तुम छाया पर चाहे जितने पंजे मारो, फिर भी मैं तो छाया से भिन्न निर्भयता से अपने स्थान पर बैठा हूँ।"

बन्दर की बात सुनकर सिंह राजा समझ गये कि यहाँ हमारी कोई चालबाजी नहीं चलेगी, बल्कि बन्दर की बुद्धिमानी के प्रति उसे बहुमान जागृत हुआ कि– वाह! देह और छाया की भिन्नता के भान (भावभासन) से इस बन्दर को कैसी निर्भयता है। फिर देह और आत्मा की भिन्नता जानने से कैसी निर्भयता आयेगी।

इसप्रकार सिंह के विचारों में भी परिवर्तन हो गया।

सिंह ने अपने विचार बन्दर को सुनाये, तब बन्दर ने कहा–

"राजा ! तुम्हारी बात बिल्कुल सच्ची है। देह और आत्मा की भिन्नता के ज्ञान से इस सिंह से तो क्या, बल्कि कालरूपी सिंह से भी डर नहीं रहता है। कालरूपी सिंह आवे या मृत्यु आ जावे तो भी वह उसे पीछे धकेल देता है। अरे काका! तू यहाँ से चला जा मेरे पास तुम्हारा जोर नहीं चलेगा, तुम्हारे पंजे हमारे ऊपर नहीं चलेंगे, क्योंकि मैं कोई देह नहीं हूँ, मैं तो अविनाशी आत्मा राम हूँ। मृत्युरूपी सिंह मुझे मार नहीं सकता।

हे सिंह राजा ! ऐसे सरस भेदज्ञान की बात सुनकर अब तुम हिंसा का क्रूरभाव छोड़ो और आत्मा के परमशांत भाव को धारण करो।

तुम्हारे ही वंश में पहिले एक सिंह ने मुनिराज के उपदेश से ऐसा ही भेदज्ञान किया था और भरतक्षेत्र में अन्तिम तीर्थंकर हुआ था।

इसीप्रकार ऋषभदेव भगवान के जीव ने भी वज्रजंघ के भव में जब मुनिराज को आहारदान दिया था, तब सिंह और बन्दर ने एक साथ उसकी अनुमोदना की थी, उसके बाद दोनों ने एक साथ मुनि का उपदेश भी सुना था और जातिस्मरण ज्ञान पाया था। उसके बाद दूसरे भव में भोगभूमि में आत्मज्ञान करके ऋषभदेव भगवान के पुत्र हुए और मोक्ष में गये।

अब हम दोनों भी भेदज्ञान करके भगवान बनेंगे।''

बन्दर की यह बात सुनकर सिंह बहुत खुश हुआ। उसने हिंसकभाव छोड़ दिया और शांतभाव धारण करके भेदज्ञान प्रगट किया। तत्पश्चात् सिंह और बन्दर एक-दूसरे के साधर्मी मित्र बन गये।

भेदज्ञान से जीवसिंह राजा से सिद्ध राजा बन जाता है,
पशु से परमात्मा हो जाता है, अतः भेदज्ञान अवश्य करना चाहिये।

सिंह और बन्दर की कहानी से प्राप्त बोध

❖ जिसप्रकार मूर्ख सिंह और बन्दर शरीर की छाया को अपनी मानकर दुखी हुए, वैसे ही अज्ञानी जीव शरीर को आत्मा मानकर दुखी होता है।

❖ जैसे समझदार सिंह और बन्दर ने शरीर और छाया को अपने से भिन्न जाना, तब वे दुखी नहीं हुए। वैसे ही हम भी देह से भिन्न अपनी आत्मा का सच्चा स्वरूप जानें और उसमें लीन होवें तो ही भव-दुःख दूर होगा और हम सुखी होंगे।

❖ राग-क्रोधादि परभाव भी चैतन्य की छाया के समान हैं। वे आत्मा के असली स्वरूप नहीं हैं। जो चैतन्यस्वरूप आत्मा को रागादि से सहित मानता है, वह अज्ञानी है। उसकी विपरीत मान्यता ही संसार का कारण है। रागादि परभाव (विपरीत भाव) की छाया से रहित शुद्ध जीव को अनुभवना, यही मोक्षसुख के प्राप्ति की रीति है।

❖ जैसे छाया पर झपट्टे मारने से सिंह को कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ, वैसे ही छाया के समान बाह्य-पदार्थों में राग-भाव करने से सुख माने और उनमें चाहे जितने झपट्टे मारे तो भी जीव को कुछ सुख नहीं मिलता, अन्तर की तरफ़ दृष्टि करके चैतन्य वस्तु को पहिचाने तो ही जीव सुखी हो सकता है।

❖ जैसे कहानी का सिंह जंगल का राजा है, वैसे ही हे जीव! तू तीन लोक में महान चैतन्य राजा है। सिंह राजा ने अपने सच्चे स्वरूप को भुला दिया और छाया को सिंह मान लिया, इसकारण वह कुएँ में गिरकर दुःखी हुआ। वैसे ही चैतन्य स्वरूप जीव राजा भी अपना स्वरूप भूलकर संसाररूपी कुएँ में गिरता है।

❖ यह जीव जब देह से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप का ख्याल करता है, तब सिंह जैसा पराक्रमी होकर केवलज्ञान और सिद्धपद प्रगट करता है और तीन लोक का राजा परमात्मा होता है। ●

मोक्षनगरी में प्रवेश करने के लिए

अमूल्य अवसर
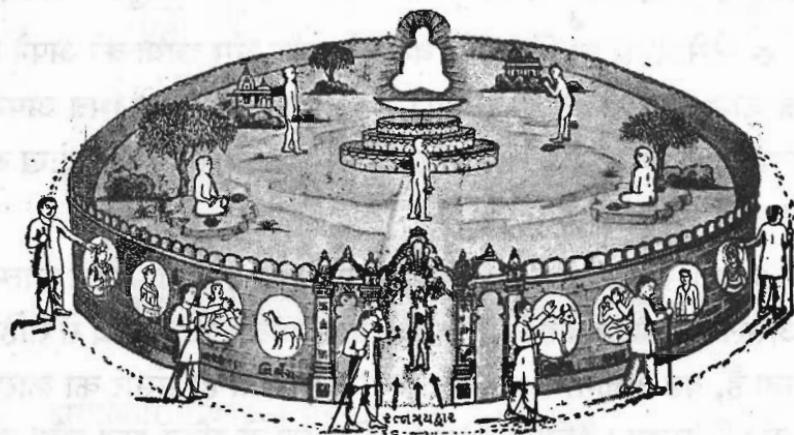
हे जीव! तू अनन्तकाल से चारों गतियों में जन्म धारण कर परिभ्रमण कर-करके महादु:ख भोग रहा है। अब जैसे-तैसे मनुष्य हुआ, वहाँ ८४ लाख योनियों के चक्कर से बाहर निकलने का अभूतपूर्व अवसर हाथ में आया है। इसलिए अब अज्ञान से प्रमादी होकर समय गँवायेगा तो हे जीव ! तू उस अन्धे मनुष्य के समान यह अमूल्य अवसर चूक जायेगा।

एक अन्धे मनुष्य को शिवनगर में प्रवेश करना था। वहाँ नगर के किले में प्रवेश करने का एक ही दरवाजा था। किसी दयालु ने उसको मार्ग दिखाया और किले की दीवार से हाथ लगवा दिया और कहा– "इस दीवार के सहारे-सहारे चले जाओ और चलते-चलते जब दरवाजा आ जावे, तब अन्दर चले जाना। बीच में कहीं भी प्रमाद में मत अटकना।"

इसप्रकार किले की दीवार को पकड़कर वह अन्धा मनुष्य आगे बढ़ने लगा, लेकिन बीच-बीच में वह प्रमादी होकर क्षण में पानी पीने रुकता, क्षण में शरीर खुजाने लगता– ऐसा करता हुआ जब दरवाजा पास आया तो ठीक उसी समय भाईसाहब सिर खुजाने लगे और सिर खुजाते-खुजाते आगे बढ़ गये और दरवाजा पीछे ही छूट गया।

इसप्रकार शिवनगर में प्रवेश करने का अवसर चूक कर वह फिर से भटक गया।

उसीप्रकार हे जीव! इस चौरासी के चक्कर में तुझे ये मनुष्य पर्याय जैसे-तैसे मिली है और मोक्षनगरी में प्रवेश करने हेतु दरवाजे को दिखानेवाले सन्त महापुरुष मिले हैं। उन्होंने करुणा करके मार्ग दिखाया है कि– "अन्दर चैतन्यमय आत्मा को स्पर्श करते हुए चला जा....... मोक्षनगरी में प्रवेश करने हेतु रत्नत्रय का दरवाजा आयेगा, तू उसमें प्रवेश कर जाना।" लेकिन इसके बदले अन्धे मनुष्य के समान जो अज्ञानी जीव राग में धर्म या इन्द्रिय-विषयों में सुख मानकर उसमें ही अटकते हैं और चैतन्यस्वरूप को पहचानने की कोशिश नहीं करते, वे मोक्षनगरी में प्रवेश करने का अवसर चूक जाते हैं और चौरासी के चक्कर में पुनः पड़ जाते हैं।

इसलिए हे जीव! तू अन्धे मनुष्य के समान इस अवसर को मत चूकना। देह की या मान-बढ़ाई की तमन्ना छोड़कर आत्मा के हित की संभाल करना।

तू अनन्तबार गाजर-मूली के साथ मुफ्त के भाव बिका है, अतः किसका मान करना। एकेन्द्रिय के पर्याय में गाजर या मूली में जन्म लिया और बाजार में सब्जीवाले के यहाँ ढेर में पड़ा रहा। वहाँ सब्जी लेनेवाले का छोटा बच्चा सब्जी के साथ गाजर और मूली मुफ्त में माँगता है और सब्जीवाला उसे दे देता है। तब उस गाजर-मूली की पर्याय में वनस्पतिकाय को धारण करनेवाला जीव भी उस मूली के साथ मुफ्त में बिक जाता है।

इसप्रकार यह जीव मुफ्त में अनन्तबार बिका और इस मनुष्य पर्याय में व्यर्थ ही मान-अपमान के पीछे अपना समय क्यों गँवाता है।

हे भाई ! थोड़े समय की इस मनुष्य पर्याय में आत्महित के लिए क्या करना है, इसका विचार कर! सावधान होकर, आत्मज्ञान करके, मोक्षनगरी के दरवाजे में प्रवेश कर ले! अन्धे मनुष्य के समान अवसर चूक कर पुनः चौरासी के चक्कर में मत पड़ जाना। ●

भवरोग की दवा

अतिशय रूपवाले चक्रवर्ती सनतकुमार को मुनिदशा में भयंकर कोढ़ रोग हो गया। उसी समय एक देव, वैद्य का रूप धारण करके आया और कहने लगा– "प्रभो! आपकी आज्ञा हो तो मेरी औषधि से आपका रोग एक क्षण में मिट सकता है।"

उस समय मुनिराज ने कहा– "हे वत्स! इस शरीर का कोढ़ रोग मिट जावे- ऐसी ऋद्धि (ताकत) तो मेरे थूक में ही है, परन्तु मुझे देह के रोग की जरा भी चिन्ता नहीं है, मुझे तो अपनी आत्मा को भवरोग से मुक्त करना है। उसकी दवा तुम्हारे पास हो तो भवरोग दूर कर दो।"

तब देव ने कहा- " हे प्रभु! इस भवरोग को मिटाने की रत्नत्रय औषधि तो आपके पास ही है।" वास्तव में मुनिराज ने रत्नत्रयरूपी वीतरागी औषधि से अपना भवरोग मिटाया।

इस दृष्टान्त से श्री गुरु कहते हैं कि –" हे जीव ! तू देह की चिन्ता मत कर, आत्मा को दु:खी करनेवाले भवरोग को मिटाने का उपाय कर। हे जीव ! यदि तुम जन्म-जरा-मरण के रोग को मिटाना चाहते हो और अजर-अमर होना चाहते हो तो धर्मरूपी अमृत का पान करो।"

संसार के डाक्टरों ने टी.वी., कैन्सर आदि की दवा का अनुसंधान तो किया, परन्तु जन्म-मरण के रोग की कोई दवा उनके पास नहीं है। उस भवरोग को मिटाने की दवा तो भगवान जिनदेव ने ही खोजी है।

वह कौनसी औषधि है?

तो कहते हैं कि–" रत्नत्रय धर्मरूपी रसायन ही उस भवरोग मिटाने की अचूक दवा है, उसका सेवन करो। धर्म के सेवन से भव-रोग मिट जाता है और मोक्ष प्राप्त होता है। जब शरीर ही नहीं रहा तो फिर रोग कैसा? जन्म-मरण कैसा? धर्मरूपी-औषधि के सेवन से तू सिद्धपद प्राप्त कर अजर-अमर हो जा।" ●

छह अक्षर का मन्त्र

(संसार में गृहस्थ को भिन्न-भिन्न प्रकृतिवाले मनुष्यों के परिवार में रहना पड़ता है और तब भी परिवार में स्नेह-शान्ति-प्रेम बना रहे, यह खास बात है। वह कैसे सम्भव हो? -उसके लिए इस मंत्र को जानना आवश्यक है।)

एक सद्गृहस्थ सैकड़ों मनुष्यों के परिवार में रहता था, वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकृति के अनेकों छोटे-बड़े सदस्यों में प्रतिदिन नये-नये प्रसंग बनते रहते थे। फिर भी परिवार में सर्वत्र शान्ति का वातावरण रहता था, इसकारण सारे गाँव में हमेशा इस परिवार की एकता और अखंडता की चर्चा होती रहती थी। उसी गाँव के दूसरे परिवार में सिर्फ ४ मनुष्य ही रहते थे, फिर भी वे एकता के साथ नहीं रह पाते थे और रोज कोई न कोई लड़ाई-झगड़ा हुआ करता था।

उन सद्गृहस्थ के परिवार की शान्ति की चर्चा सुनकर इस परिवार के लोगों को आश्चर्य होता था, उसका रहस्य जानने के लिए एकबार वे उनके पास गये और परिवार की शान्ति का कारण पूछा।

तब उन सद्गृहस्थ ने कहा– "भाइयो ! विशाल परिवार में भी शान्ति रह सकती है– यह कोई कठिन बात नहीं है।"

तब उन्होंने एक कागज देते हुए कहा– "शान्ति प्राप्त करने के लिए एक महान मंत्र मैंने इसमें लिखा है, उस मंत्र के द्वारा तुम्हारे परिवार में जरूर शान्ति होगी, इसे अपने घर जाकर खोलना।"

घर जाकर उस मनुष्य ने वह मंत्र पढ़ा, सौ बार पढ़ा, वह बहुत आश्चर्य चकित हुआ– "वाह ! इतना सरल मंत्र !!"

तब उसने भी वैसा ही करना प्रारंभ किया और उस मंत्र के प्रभाव से तुरन्त ही दूसरे परिवार में भी सुख-शान्ति का आनन्दमय वातावरण फैलने लगा।

प्रिय पाठको !

आपको भी यह मंत्र जानने की उत्कंठा जागी होगी। इसलिए सुनो! सद्गृहस्थ ने कागज पर एक ही मंत्र सौ बार लिखा था। वह है...... सहनशीलता...... सहनशीलता...... सहनशीलता....... वाह ! कैसा सरल मंत्र और जीवन में कितना उपयोगी।

'सहनशीलता' एक ऐसा मंत्र है कि जहाँ दूसरा कोई उपाय काम न करे, वहाँ यह मंत्र काम करता है। सभी प्रयोगों में उपयोगी इस मंत्र का प्रयोग कभी निष्फल नहीं जाता। गुरुदेव बार-बार कहते हैं कि जहाँ कोई उपाय लागू न पड़े, वहाँ भी 'सहनशीलता' वह अचूक उपाय है।

सबसे......पहले.....धर्म

"जब वृद्धावस्था होगी, तब धर्म करूँगा" –ऐसा कहते-कहते अनेक जड़बुद्धि (मूर्ख) धर्म किये बिना ही मर गये।

अरे, धर्म करने के लिए वृद्धावस्था की राह क्यों देखना ? मुमुक्षु के जीवन में पहला स्थान धर्म का होता है। सबसे पहला क्षण धर्म का......सबसे पहला काम धर्म का।

भरत राजा के पास एक साथ तीन शुभ-संदेश आये थे। जिनमें पुत्ररत्न और चक्ररत्न की प्राप्ति– ये दोनों को गौण करके उन्होंने सबसे पहले भगवान आदिनाथ को केवलज्ञान-प्राप्ति के शुभ-सन्देश को मुख्य करके उनकी पूजा की थी। इस घटना से भरत चक्रवर्ती के जीवन में धर्म की प्रधानता थी – इसका पता चलता है।

भाई ! यदि तुम्हें भी दु:ख से छूटना हो तो वर्तमान में तुम्हारे पास जो मौजूद है, उसका सदुपयोग कर लो। फिर कभी....फिर कभी के भरोसे प्रमादी होकर बैठे रहे तो अन्त में पछताना पड़ेगा।

धर्म के संस्कार वृद्धावस्था में भी तुझे ऐसा सुन्दर सहारा देंगे कि अन्य सहारों की तुझे जरूरत ही नहीं पड़ेगी।

अत: हे जीव ! तू आज से ही सचेत हो जा !!

भाई-बहन की धर्मचर्चा

(जीवन की सफलता)

(यह कहानी एक सद्गृहस्थ जैन के घर की है, जिसके यहाँ सभी को अच्छे संस्कार हैं। इसी घर के आनंदकुमार और धर्मवती नाम के दोनों भाई-बहन बाह्य विकथाओं याने सिनेमा, टी.वी. वगैरह में रुचि न लेकर रोज रात को बैठक धर्मचर्चा करते हैं। इसीप्रकार उन्हें महापुरुषों की धर्मकथा करने में भी विशेष आनंद आता है। ये भाई-बहन कैसी मजेदार धर्मचर्चा करते हैं, उसका एक नमूना यहाँ बताया जा रहा है। तुम भी अपने भाई-बहनों के साथ इसीप्रकार की धर्मचर्चा करते ही होगे। यदि नहीं करते हो तो आज से जरूर करना। अच्छा..... तो चलो..... शुरू हो जाओ धर्मचर्चा करने के लिए अभी मुहुर्त उत्तम है।)

धर्मवती बहन पूछती है –

"भाई! अनन्तकाल मे हमें यह मनुष्य जन्म मिला है, इसलिए इस जीवन में करने जैसा क्या कार्य है?"

भाई आनंदकुमार उत्तर देता है –

"बहन, मनुष्य जीवन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आराधना ही करने जैसी है।"

बहन : हे भाई! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय की आराधना किस प्रकार से होती है?

भाई : बहन ! इस रत्नत्रय की आराधना तो मुख्यरूप से मुनिराज करते हैं, वे चैतन्यस्वरूप की लीनता के द्वारा रत्नत्रय की आराधना करते हैं।

बहन : भाई ! रत्नत्रय के मुख्य आराधक मुनिराज हैं तो क्या यह गृहस्थ को भी हो सकती है।

भाई : हाँ बहन! एक अंश में रत्नत्रय की आराधना गृहस्थ को भी हो सकती है।

बहन : हमारे जैसे छोटे-छोटे बालक भी क्या रत्नत्रय की आराधना कर सकते हैं?

भाई : हाँ, हाँ, जरूर कर सकते हैं, परन्तु रत्नत्रय का मूल बीज सम्यग्दर्शन है। अत: उसकी सबसे पहले आराधना करनी चाहिये।

बहन : अहो ! सम्यग्दर्शन की तो अपार महिमा सुनी है। भाई! उस सम्यग्दर्शन की आराधना किस प्रकार होती है?

भाई : सर्वप्रथम आत्मा की सच्ची लगनपूर्वक ज्ञानी सन्तों से उसे समझना चाहिये। पश्चात् अन्तर्मुख होकर आत्मा का अनुभव करने से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

बहन: ऐसा सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा के अनुभव का स्वाद कैसा होता है?

भाई : अहो ! उसका वर्णन करें तो कैसे करें। बस, इतना समझलो कि वहाँ सिद्धों के समान वचनातीत आनंद अनुभव में आता है।

बहन : हे भाई ! तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है तो वे तत्त्व कितने हैं?

भाई : तत्त्व नव हैं तथा न तत्त्वों की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है।

बहन : भाई! उन नव तत्त्वों के नाम तो बताइये?

भाई : जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष – ये नव तत्त्व हैं।

बहन : इन नव तत्त्वों में उपादेयरूप तत्त्व कौन से हैं?

भाई : नव तत्त्वों में शुद्ध जीवतत्त्व परम उपादेय है, उसको उपादेयरूप स्वीकार करने से संवर, निर्जरा और मोक्ष प्रगट होता है। बाकी अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव और बंध– ये पाँच तत्त्व हेय हैं।

बहन : वाह! आज सम्यग्दर्शन और हेय-उपादेय तत्त्वों की बहुत सरस चर्चा हुई। हमें भी गहराई से विचार कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

भाई : हाँ बहन ! सबको एकमात्र यही करने योग्य कार्य है। तू भी अपने जीवन में यही एक प्रयत्न करना। इससे ही जीवन की सफलता है। ●

सिंहपुत्र की कहानी

(तुम भी सिद्ध भगवान के पुत्र हो)

एक सिंह का बच्चा था, वह भूल से बकरों के झुण्ड में शामिल हो गया और अपने को बकरा समझकर बकरे के समान व्यवहार करने लगा।

दूसरे अनुभवी वृद्ध सिंह ने उसे देखा और जागृत करने के लिए उसने सिंहनाद किया। सिंह की गर्जना सुनकर झुण्ड के सारे बकरे तो डर कर भाग गये, लेकिन सिंह का बच्चा वहीं निर्भयता से खड़ा रहा, उसे सिंह से डर नहीं लगा।
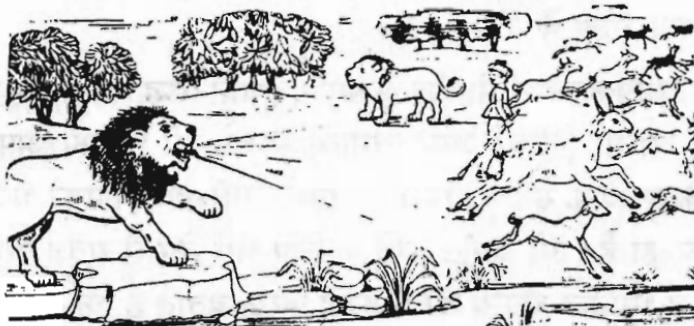
तब वह वृद्ध सिंह उसके पास आकर प्रेम से बोला– "अरे बच्चे! तू में....में.... करनेवाला बकरा नहीं है। तू तो महापराक्रमी सिंह है। देखो, मेरा सिंहनाद सुनकर बकरे तो सब डरकर भाग गये, लेकिन तुझे क्यों डर नहीं लगा? क्योंकि तुम तों सिंह हो, हमारी जाति के हो। यदि विश्वास न हो तो विशेष परिचय करने के लिए मेरे साथ चलो।"

–ऐसा कहकर वह अनुभवी सिंह उसे अपने साथ ले गया और एक कुएँ के पास ले जाकर बोला– "स्वच्छ पानी में देख ! तेरा चेहरा किसके समान है– सिंह के समान है या बकरे के समान।"

और भी विशेष लक्षण बताने के लिए सिंह ने उससे कहा– "तू एक आवाज कर, और पहिचान कर कि तेरी आवाज किसके समान है –सिंह के समान है या बकरे के समान।"

सिंह के बच्चे ने जैसे ही गर्जना की, वैसे ही उसे विश्वास हो गया कि "मैं सिंह हूँ।" स्वच्छ पानी में अपना चेहरा देखने पर उसे अच्छी तरह दृढ़ विश्वास हो गया कि मैं सिंह ही हूँ, भूल से मैं अपना सिंहपना भूलकर अपने को बकरे के समान मान रहा था।

इसप्रकार लक्षण के द्वारा उसका स्वरूप बताकर अनुभवी सिंह ने उससे कहा– "अरे सिंह के बच्चे ! तू इन बकरों की टोली (झुण्ड) में अच्छा नहीं लगता। आ.....जा..... हमारी टोली में, सिंह की टोली में, अपनी टोली में !"

इसीप्रकार यहाँ भी सिंह के समान अर्थात् सिद्ध भगवान के समान भगवान आत्मा (जीव) अपने परमात्म स्वरूप को भूलकर अपने को बकरी के बच्चे के समान दीन-हीन-पामर-रागी-द्वेषी मानकर भव-भव में भटक रहा है। उसे जागृत करने के लिए धर्म-केसरी सर्वज्ञ परमात्मा और सन्त भगवन्त चैतन्य का सिंहनाद करके बताते हैं कि–

अरे जीव ! तू तो हमारी जाति का परमात्मा है। जैसे परमात्मा हम

हैं, वैसा ही तू परमात्मा है। तू देहवाला या रागी या दीन-हीन बकरे के समान नहीं है, तू तो सिद्ध जैसा है। निर्मल ज्ञानदर्पण में तू अपने स्वरूप को देख ! तेरी चैतन्य मुद्रा हमारे साथ मेल खाती है या जड़ के साथ? तुझे स्वसंवेदन (आत्मा के अनुभव) होने पर ही ऐसा पक्का विश्वास होगा कि तू हमारे समान परमात्मा है। और "मैं सिद्ध हूँ" –ऐसे स्वसन्मुख वीर्य के उल्लास के साथ श्रद्धा का सिंहनाद कर...... तेरा सिद्धपना स्पष्ट प्रतीति में आ जायेगा।

"भाई ! तू सिद्ध प्रभु का बच्चा है, इस संसार में पुद्गल की टोली में रहना तुझे शोभा नहीं देता। आ.....जा..... हमारी टोली में, सिद्धों की टोली में, अपनी टोली में !"

इसप्रकार सर्वज्ञ प्रभु की वाणी के सिंहनाद से अपने सिद्धस्वरूप का भान करके ही मुमुक्षु जीव आनंदित होता है, उसका वीर्य उल्लसित हो जाता है और मोक्ष को साधकर वह भी अनेक सिद्धों की टोली में मिल जाता है।

अहो ! देखो तो सही !! वीतरागी सन्तों की पुकार !!! आत्मा का परमात्मपना बताकर उन्होंने हम पामर प्राणियों पर परमोपकार किया है।

तात्कालिक उपाय

शरीर में भयानक गंभीर रोग हुआ हो, उस समय तात्कालिक उपचार क्या होना चाहिए ?

शरीर से भिन्न चैतन्य की भावना में उपयोग लगाना चाहिए, यही तात्कालिक उपाय है। यह उपाय रोग की पीड़ा को भुलाकर चैतन्य की शक्ति देता है। यह अचूक उपाय है, अवश्य ही लागू होता है। इसके अलावा यह उपाय स्वाधीन भी है, इसके लिए बाहर में किसी वैद्य या डाक्टर की सलाह नहीं लेना पड़ती।

यह उपाय सब रोगों के दुःख दूर करता है।

वृद्धावस्था से क्या घबराना !

(वैराग्य की वृद्धि)

बुढापे में शरीर काम न करता हो, प्रतिकूलता के ढेर लगे हों, सेवा-सुश्रुषा करनेवाला कोई भी न हो...तो भी बापू ! तू घबराना मत !! 'मेरा कोई भी नहीं है'-ऐसा सोचकर हताश मत हो जाना ! तुम्हारे जीवनपर्यंत के उत्तम संस्कारों की अमूल्य निधि तुम्हारे पास ही है।

जीवन के अन्तिम समय में तुम्हारी भावनाएँ ही तुम्हें शान्ति प्रदान करनेवाली हैं, इसलिए उन पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करो।

शरीर से ममत्व तो छोड़ना ही है, उससे ममत्व किया जाय–ऐसा इस शरीर में है ही क्या ? फिर इस शरीर की सेवा करनेवाला कोई हो या न हो, उसकी क्या चिन्ता ? अरे बापू ! आत्मा की चिन्ता करो, जिससे तुम्हारा भविष्य उत्तम बने।

जवानी में भी जो काम न हो सका, उसे शूरवीर होकर अभी कर लो! शूरवीर आत्मा की शूरवीरता को यह शरीर की वृद्धावस्था कोई कमजोर नहीं बना सकती है।

यदि चलने-फिरने में असमर्थ हो गये हो तो हृदय में ही जिन-भक्ति करो.... पंच-परमेष्ठी भगवन्तों को याद करो....... मुनिपद की भावना करो......।

शरीर की क्षणभंगुरता और आत्मा की नित्यता का विचार करके वैराग्य की उत्तम भावना करो..... बस, तुम्हें कोई दुःख नहीं रहेगा।

अन्दर में जिनभावना है तो बाहर की प्रतिकूलता क्या बिगाड़ सकती है? इसलिए खेद छोड़ो .... और प्रसन्नचित्त से आत्मा की साधना करो।

हे मुमुक्षु ! जीवन में महावीर शासन को पाकर अब खेद-खिन्न

जीवन जीना नहीं है। आनंदमय जीवन जियो। अपने जीवन को आनंदमय बनाने के लिए ही तुमने सैंकड़ों बार सन्त पुरुषों के उपदेशों को सुना है,..... बहुत कुछ पढ़ा है.... बहुत कुछ विचारा है।

अरे ! ऐसे आनन्द को साधने के अवसर पर खेद कैसा ? मुमुक्षु को तो निजानन्द की प्राप्ति के अवसर में परम-उत्साह होता है।

अरे मुमुक्षु ! भले ही वृद्ध हो गये....... तो भी तुम मुमुक्षु ही हो.... शरीर भले कमजोर हो गया, लेकिन उससे मुमुक्षुपने के उत्साह को ढीला मत करना। जवानी नष्ट होकर वृद्धावस्था आ गई, परन्तु उससे तुम कोई 'मुमुक्षु' नहीं मिट गये। केवल मोक्ष की ही जिसे अभिलाषा रह गई है– ऐसे 'मुमुक्षु' जीव को फिर खेद किस बात का? अरे, जगत में ऐसा कौन-सा दुःख है, जिसके कारण तुम्हें खेद करना पड़े।

सुनो, भाई ! तुम्हारे लिये तो अब आत्मा को साधने का महा-आनंद-प्रसंग आया है.....अतः प्रसन्नचित्त से आत्मा की साधना में लग जाओ।

खेद छोड़ो ! और विचार करो कि तुम्हें जीवन में कैसे सरस देव-गुरु-शास्त्र मिले हैं ! कैसा सरस मार्ग मिला है !! और अन्दर कितना आनंददायी आत्मा विराजमान है !!! जगत में इतना सरस योग मिलने पर फिर खेद करने के लिए क्या रह जाता है ?

खेद करने की आदत छोड़ो..... और महान उल्लास के साथ शान्त भाव से अपने आनंदधाम भगवान आत्मा की तरफ देखो !

तुम्हारा जीवन अपूर्व चैतन्य लाभ से भर जायेगा।

परिणाम परिणामी बिना नहीं रहता।
वस्तु की स्थिति सदा एक समान नहीं रहती।

रात्रि भोजन का महापाप

(एक बनिये ने रात्रि भोजन करना छोड़ा था और वही भगवान रामचन्द्र बना था, अतः तुम भी रात्रि भोजन करना छोड़ो)

भरतक्षेत्र में एक धनदत्त नाम का बनिया रहता था। एक बार वह धनदत्त मार्ग में अत्यंत थक गया, खेदखिन्न हुआ और सूर्यास्त के बाद रात्रि में कोई धार्मिक आश्रम में पहुँचा, उसे बहुत जोर से प्यास लग रही थी, उसने वहाँ एक महात्मा को देखा और कहा– "आप पुण्यकार्य करनेवाले हो, मैं बहुत प्यासा हूँ, इसलिए मुझे पानी दे दो।"

उस समय महात्मा ने उससे मधुर वाणी में कहा–

"हे वत्स ! रात्रि में अमृत पीना भी उचित नहीं, तो फिर पानी की क्या बात? जिस समय आँख भी अपना व्यापार (देखने का कार्य) करना छोड़ देती है, तब आँख भी से नहीं दिखते –ऐसे सूक्ष्म जीव चारों ओर घूमते रहते हैं। ऐसे अन्धकार में रात्रि के समय में तू भोजन-पान मत कर। हे बन्धु ! रात्रि में भोजन का भाव करके दुःख से भरे हुए संसार-समुद्र में मत पड़।

धर्मात्मा की अमृत जैसी मधुर वाणी सुनकर धनदत्त का मन शान्त हो गया और प्रसन्नता से उसके हृदय में दया प्रगटी, उसी समय उसने रात्रि भोजन छोड़कर अहिंसादि अणुव्रत धारण किये, अल्प-शक्ति के कारण वह महाव्रत धारण नहीं कर सका। अणुव्रत सहित देह छोड़ी और वह स्वर्ग का देव हुआ।

बन्धुओ ! यह धनदत्त का जीव ही फिर आगे जाकर अपने भगवान रामचन्द्रजी बने।

उपरोक्त कहानी से यह शिक्षा मिलती है कि तुम रात्रि भोजन का पाप छोड़ो और आत्महित का उद्यम करो। *(जैन रामायण : पद्मपुराण से साभार)*

दो भाइयों का प्रेम

दो भाई..... दोनों को एक-दूसरे पर अपार प्रेम। बड़े भाई का परिवार विशाल था, लेकिन छोटा भाई अकेला था, कुँवारा था, उपाधियों से अभी दूर था।

दोनों भाइयों के खेत पास-पास एक-दूसरे के खेतों से जुड़े थे। दोनों ने अपने-अपने खेतों के धान्य को इकट्ठे करके रखा था। शाम को घर जाने का समय हुआ तो बड़े भाई ने छोटे से कहा–

"भाई! ये अनाज के ढ़ेर लगे हैं। मैं घर जाकर आता हूँ, तब तक तुम यहाँ रहकर ध्यान रखना।" – ऐसा कहकर बड़ा भाई घर चला गया, लेकिन यहाँ खेतों के पास अकेला रह गया छोटा भाई। वह अनाज के ढेर देखकर विचार करता है –

"बड़े भाई का तो बड़ा परिवार है और मैं तो अकेला हूँ, इतने सारे अनाज की मुझे क्या जरूरत है, बड़ा भाई वैसे तो कुछ लेगा नहीं, इसलिये बड़े भाई को पता ही न चले, इसप्रकार से उसके ढेर में थोड़ा अनाज डाल देता हूँ" – ऐसा विचार कर अपने ढेर में से लगभग १०० मन अनाज बड़े भाई के ढेर में डाल दिया और अपनी जगह पर आकर बैठ गया।

जब बड़ा भाई घर से वापस आता है तो छोटा भाई घर जाता है। यहाँ बड़े भाई को छोटे भाई के द्वारा किये गये कृत्य का कुछ पता नहीं।

लेकिन यहाँ बड़े भाई को भी दोनों अनाज के ढ़ेर देखकर विचार आता है – "मेरा छोटा भाई तो भोला है, अभी संसार की माया का कुछ पता भी नहीं है, और कोई पूँजी भी उसके पास जमा नहीं है, मैं कुछ दूँगा तो वह लेगा भी नहीं। लेकिन मैं तो उसका बड़ा भाई हूँ, मुझे उसका ध्यान रखना चाहिये" – ऐसा विचार कर उसने भी अपने अनाज के ढ़ेर में से लगभग १०० मन अनाज छोटे भाई के ढ़ेर में डाल दिया।

देखो तो सही, एक-दूसरे के हित के लिए कितनी ऊँची भावना!

उक्त दृष्टान्त में ९०० मन अनाज की कीमत नहीं है, बल्कि दोनों भाइयों के बीच आपसी सद्भावना की कीमत है।

इस दृष्टान्त का उद्देश्य यह है कि जब लौकिक भाई एक-दूसरे के हित का इतना ध्यान रखते हैं तो धर्म के सम्बंध से जो परस्पर साधर्मी भाई हैं, उनमें तो एक-दूसरे के हित के लिए कितनी ऊँची भावना होनी चाहिये। अपनी कोई भी विभूति (धनादिक) अपने साधर्मी भाई के हितोपयोग में आवे, तब साधर्मी को कितनी प्रसन्नता होती है। अहो ! साधर्मी के लिए जहाँ इतनी ऊँची उत्तम भावना होती है, वहाँ एक-दूसरे के अनिष्ट या निंदा करने की कल्पना भी सम्भव नहीं है। फिर हम तो वीतराग-शासन के साधर्मी ! हमें भी वीतराग भगवान के शासन में उत्तम संस्कारों के बल से एक-दूसरे के प्रति परम वात्सल्य भावना से अपने जीवन को सुशोभित करना चाहिये। **(उक्त कहानी का कथ्य जैनपत्र 'कल्याण' के आधार से लिया है)**

गुनहगार कौन ?

पहला मुमुक्षु : चारित्रदशा प्राप्त करने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है।

दूसरा मुमुक्षु : यह बात तो शत-प्रतिशत सत्य है; परन्तु चारित्र दशा तो सम्यग्दर्शन पूर्वक ही होती है। सम्यग्दर्शन के बिना केवल बाह्य आचरण की मोक्षमार्ग में कोई कीमत नहीं है।

अत: सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए। पश्चात् सम्यक् चारित्र की पूर्णता प्राप्त करके मोक्षमहल में प्रवेश करना चाहिए। सम्यग्दर्शन तो मोक्षमार्ग में प्रवेश करने का टिकिट है। इसके बिना मोक्ष में प्रवेश करने जाओगे तो गुनहगार (अपराधी) बनोगे। बिना टिकिट यात्रा करने वाला गुनहगार (अपराधी) होता है।

धर्म कार्य कब करना ?

(आज..... आज......और......अभी)

एक राजा था, उसकी एक रानी, एक पुत्री और एक दासी थी। जैनधर्म के रंग (प्रभाव) में रंगा यह पूरा परिवार वैरागी था, यहाँ तक की दासी भी वैराग्य में जागृत थी।

एक बार किसी प्रसंग पर राजा वैराग्य पूर्वक कहता है कि – 'हे जीव ! तू शीघ्र ही धर्म-साधना कर ले। यह जीवन तो क्षणभंगुर है। दो-चार दिन का ही है ! इसका क्या भरोसा?''

उसी समय रानी बोली– ''महाराज ! आप भूल कर रहे हैं? क्योंकि दो-चार दिन का भी क्या भरोसा? रात को हँसते हुए सोते हैं और सुबह को जीवन-लीला ही समाप्त हो जाती है, इसलिए कल के भरोसे नहीं रहना चाहिये।

उसी समय पुत्री गंभीरता से कहती है– 'पिताजी और माताजी ! आप दोनों भूल कर रहे हैं। दो-चार दिन या सुबह-शाम का भी क्या भरोसा ? आँख की एक पलक झपकने में ही कौन जाने क्या हो जाये ?''

दासी भी वहीं खड़ी-खड़ी यह धर्म-चर्चा सुन रही थी, अन्त में वह भी कहती है– ''अरे, आप सब भूल कर रहे हैं। आँख के झपकने में तो कितना समय (अन्तर्मुहूर्त) चला जाता है....इतने समय का भी क्या भरोसा? हमें दूसरे समय की भी राह देखे बिना वर्तमान समय में ही अपनी आत्मा को समझकर आत्महित में सावधान होना चाहिये। आत्महित का काम दूसरे समय पर नहीं छोड़ना चाहिये। एक समय का भी विलम्ब करना योग्य नहीं है।''

इस छोटी-सी कहानी से यही शिक्षा लेना चाहिये–

आत्मा-भावना कब करना ? आज....आज...और....अभी।

पानी की बूँद और कठोर पत्थर

(सफलता का रहस्य)

(''निर्धारित काम को करने की सतत् भावना ही उसकी सफलता का रहस्य है'' –ऐसा बोध करनेवाली एक बोधकथा 'जन्मभूमि प्रवासी' पत्र में प्रकाशित हुई थी, वह उपयोगी जानकर यहाँ साभार उद्धृत की जा रही है। यह बोधकथा जिज्ञासु साधर्मी भाइयों को भी आत्मसाधना में उपयोगी सिद्ध होगी। –सम्पादक)

एक नल में से पानी की एक बूँद हमेशा नीचे जड़े हुए पत्थर पर टपकती रहती। पानी की बूँद नीचे पत्थर पर टपकते ही चारों तरफ बिखर जाती, तथा सूर्य की गर्मी और हवा के प्रभाव से तुरन्त ही सूख जाती। – यह घटना प्रतिदिन हमेशा सतत् चलती रहती।

एक दिन पत्थर ने पानी की बूँद से पूछा–''अरे ओ मूर्ख जलबिन्दु! किसलिये तू रोज हमेशा टपकती रहती है? बेकार में क्यों अपनी शक्ति बरबाद करती है? तेरे टपकने से मुझे तो कुछ भी नुकसान होता नहीं है, बल्कि उल्टे तू ही बिखरकर सूख जाती है, तेरा ही नाश हो जाता है।''

पहले तो जलबिन्दु ने नम्रता से पत्थर को कहा– ''भाई ! मैंने निश्चित किया है कि मुझे तेरे अंग में एक छेद करना है और मैं अपने ध्येय को सिद्ध करने के लिये ही नियमितरूप से टपकती रहती हूँ।''

नन्हीं कमजोर दिखनेवाली जलबिन्दु की बात सुनकर पहले तो कठोर पत्थर अभिमानपूर्वक जोर से अट्टहास करके हँसा और उपहास करते हुए बोला– ''अरे ! तुझमें शक्ति ही कहाँ है, जो तू मेरे कठोर शरीर पर छेद कर सके ? मेरे कठोर शरीर के साथ टकराकर बेकार में तू अपनी शक्ति का नाश कर रही है। तेरे समान हल्की-फुल्की बिन्दु क्या मेरे वज्र शरीर में छेद कर सकती है ? यदि तू अपना भला चाहती है तो ऐसी मूर्खता का काम छोड़ दे।''

तब जलबिन्दु कहने लगी– ''ऐसा कैसे बन सकता है ? मैंने जो कार्य अपने हाथ में लिया है, उसे मुश्किलों को देखकर छोड़ दूँ, तब तो

मैं कायर कहलाऊँगी। मैंने तो निश्चित कर ही लिया है कि या तो कार्य सिद्ध करूँगी या कार्यसिद्धि के लिये अपनी जान दे दूँगी।"

पत्थर जलबिन्दु की बात सुनकर अभिमानपूर्वक पुनः हँसा और फिर तिरस्कार के स्वर में बोला–

"यदि तुझे मरना ही है तो मर ! मैं क्या कर सकता हूँ।"

यहाँ जलबिन्दु ने भी पत्थर के तिरस्कार या उपहास पर ध्यान नहीं देते हुए अपने टपकने के कार्य को चालू रखा।

समय बीतता गया, जलबिन्दु ने अपना टपकने का काम जारी रखा। एक दिन पत्थर के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब उसने देखा कि उसके वज्रशरीर की छाती पर बिन्दु ने एक छेद कर ही दिया है। पत्थर का अभिमान चूर-चूर हो गया और तब उसने नम्रता के साथ जलबिन्दु से उससे कार्य सफलता का रहस्य पूछा। उस समय जलबिन्दु ने पत्थर को यह जवाब दिया।

"भाई ! इसमें आश्चर्य करने जैसा कुछ भी नहीं है। किसी भी ध्येय को सिद्ध करने के लिए जरूरत है– एकाग्रता और अत्मविश्वास की। भय को स्वीकार किये बिना, असफलताओं की शंकाओं से डरे बिना, जो ध्येय-सिद्धी के लिए एकाग्रचित्त होकर आत्मविश्वास पूर्वक कार्य करता है, वह कठिन से कठिन कार्य में भी सफलता पा सकता है।"

उस दिन पत्थर को सफलता का असली रहस्य जानने मिला। एकाग्रता और आत्मविश्वास के बल से कठिनतम कार्य भी सिद्ध हो सकता है। सफलता की यह कुंजी उसके हृदय पर टंकोत्कीर्ण हो गई।

शिक्षा:– जलबिन्दु की सफलता का रहस्य बताने वाली इस बोधकथा के द्वारा जिज्ञासु साधर्मी भाई आत्मविश्वास और एकाग्रचित परिणाम से अपनी आत्मसाधना के ध्येय में नियमितरूप से आगे बढ़ो....सफलता जरूर मिलेगी। चैतन्यरस के बिन्दुओं के सतत् अभ्यास से मोह का कठोरतम पत्थर भी छिन्न-भिन्न हो जायेगा। ●

एक सुन्दर वस्तु

दो मित्र, दोनों राजपुत्र, दोनों का शरीर अत्यंत सुन्दर, दोनों सुन्दर राजमहलों में रहनेवाले, दोनों के पास सुन्दर स्त्रियाँ, सुन्दर वस्त्र-आभूषण, ठाट-बाट और वैभव –इतनी सम्पन्नता के बीच दोनों रहनेवाले।

एकबार की बात है कि दोनों मित्रों के मिलन को बहुत समय बीत गया। एक मित्र ने सोचा– "चलो ! अपने मित्र से मिलकर आता हूँ।"

......इसलिये वह चल दिया मित्र से मिलने। चलते-चलते राह में एक वन दिखाई दिया। वन में एक वृक्ष के नीचे जीर्ण-शीर्ण शरीरवाले कोई साधु ध्यानमग्न बैठे थे....वह मित्र भी वहीं विश्रांति लेने बैठ गया... उसने साधु महाराज को देखा.....देखते ही उसके मुंह से उद्‌गार निकले–

"अरे मित्र ! तुम यहाँ !! मैं तो तुमसे मिलने तुम्हारे नगर जा रहा था.....लेकिन तुम यहाँ इस रूप में कैसे?"

वह स्वयं जिस मित्र से मिलने जा रहा था, वही राजकुमार यहाँ साधुवेष में विराजे थे। तब वहाँ जंगल में उनका जो वार्तालाप हुआ, वह निम्नप्रकार है :–

साधु ने कहा– "मित्र ! वह वैभव आदि सब-कुछ छोड़कर मैं साधु बना हूँ, आत्मा का साधक बना हूँ।"

उसने पूछा– "अरे मित्र ! इतना सुन्दर राज, सुन्दर स्त्रियाँ, बाग-बगीचा आदि वैभव उन सबको तुम किसप्रकार छोड़ सके ? वे सब सुन्दर पदार्थ तुम्हें कैसे असार लगने लगे ?"

साधु बोले– "सुनो मित्र ! ये सब वस्तुयें सुन्दर तो जरूर हैं, फिर भी ये सब

सुन्दर वस्तुयें जिसके सामने सर्वथा असुन्दर भासित होने लगे – ऐसी दूसरी ही कोई परम सुन्दर वस्तु के दर्शन मैंने अपने अन्दर में किये हैं। अत: उस परम सुन्दर वस्तु के सामने अन्य सभी वस्तुओं को असुन्दर और असारभूत समझकर छोड़ दिया – ऐसा करने से मैं कोई नुकसान में नहीं हूँ, मैंने तो अतिशय सुन्दर वस्तु को पा लिया है।"

तब मित्र ने पुन: पूछा– "हे स्वामी ! वह सुन्दर वस्तु क्या है ? जिसकी सुन्दरता पर मुग्ध होने से, उसकी सुन्दरता के सामने सारा जगत तुम्हें असुन्दर लगने लगा।"

साधु ने मित्र की पात्रता देखकर बड़े ही उल्लास के साथ बताया– "हे मित्र ! वह वस्तु है चैतन्यतत्त्व !! अपना चैतन्यतत्त्व और उसके शान्तरस का वेदन अद्भुत सुन्दर है, ऐसी सुन्दरता जगत में अन्यत्र कहीं नहीं है। उसकी सुन्दरता में वीतरागता है और वीतरागता में परमानन्द है।"

अपने साधुमित्र के इन अनमोल वचनों को सुनकर वह गद्गद् होकर बोला– "अहो मित्र ! तुमने ऐसे सरस......सुन्दर चैतन्यतत्त्व को बताकर मुझ पर परम-उपकार किया है। मैं भी अपने चैतन्यतत्त्व को अंगीकार करता हूँ और तुम्हारे साथ साधु दीक्षा ग्रहण करता हूँ।"

अहो ! चक्रवर्ती पद छोड़ना भी जिसके सामने सरल लगता है, – ऐसे चैतन्यतत्त्व की सुन्दरता की क्या बात?

(उक्त कहानी का कथ्य जैनपत्र "कल्याण" के एक लेख के आधार से साभार लिया गया है।)

बंदूक और अहिंसा

बंदूक या बम के प्रहार भी अहिंसक जीव को विचलित नहीं कर सकते। बंदूक की ताकत से अहिंसा की ताकत बहुत अधिक है। जीवों को अहिंसा से शांति मिलेगी, बदूक या बम से नहीं। आत्मा की शांति ही सच्ची शांति है। जिसमें सच्ची शांति नहीं, वह शांति नहीं भ्रांति है।

धर्मी सों गो-बच्छ प्रीतिसम

(सच्चा सम्बंधी : साधर्मी)

दुनिया में माता-पुत्र, अथवा भाई-बहन का सम्बंध उत्तम (पवित्र) माना जाता है, परन्तु साधर्मी के सम्बंध का तो इससे भी अधिक ऊँचा स्थान है। इसलिए गुजराती भाषा में ऐसी कहावत भी प्रसिद्ध है कि **"सांचु सगपण साधर्मी तणुं"** – इस उक्ति को इसप्रकार भी कह सकते हैं – **"सच्चा सम्बंधी : साधर्मी"**

इस सम्बंध की तुलना में यदि कोई सम्बंध हो सकता है तो वह एक ही है– **"गुरु-शिष्य का सम्बंध"**। लेकिन वह सम्बंध भी अन्त में साधर्मी के सम्बंध में ही समाविष्ट हो जाता है, क्योंकि एक ही धर्म के माननेवालों में ही जो बड़ा हो वह गुरु और जो छोटा हो वह शिष्य। अत: 'सच्चा सम्बंधी : साधर्मी' – इसकी सबसे अधिक उत्कृष्टता है।

एक राष्ट्र में रहनेवाले अलग-अलग धर्म को माननेवाले भी राष्ट्रीय भावना के कारण एक-दूसरे को भाई-भाई समझने में गौरव का अनुभव करते हैं तो एक जिनशासन की छत्रछाया में रहनेवाले और एक ही देव-गुरु-धर्म की उपासना करनेवाले साधर्मियों में धार्मिक भावना के कारण परस्पर में जो बंधुत्व का निर्दोष वात्सल्य पाया जाता है और "ये मेरे साधर्मी भाई या साधर्मी बहन है" – ऐसा कहते हुए अन्तरंग में जो निर्दोष उल्लास और धार्मिक गौरव वर्तता है, उसकी तुलना जगत के अन्य किसी सम्बंध से नहीं की जा सकती।

अपने वीतराग धर्म ! इसमें साधर्मी-साधर्मी के सम्बंध की उत्कृष्टता का दूसरा कारण यह है कि उसमें एक-दूसरे के सम्बंध से मात्र धार्मिक भावना की पुष्टि के सिवाय दूसरी कोई आशा या अभिलाषा नहीं होती है। मुझे जो धर्म प्रिय लगा, इसलिए उसने मेरी धर्मभावना का पोषण किया और मैंने उसकी धर्मभावना का पोषण किया।

इसप्रकार परस्पर में धर्मपुष्टि की निर्दोष भावना से सुशोभित होनेवाला धर्मवात्सल्य जगत में जयवन्त वर्तो !

हम भी एक ही उत्तम पथ के पथिक हैं, इस कटु संसार में साधर्मी के सहवास की मिठास चखकर और आत्मिक चर्चा के दो शब्द सुनकर मुमुक्षु जीव की संसार से उत्पन्न होनेवाली थकान उतर जाती है और धार्मिक उत्साह होने से अनोखा बल मिलता है। बस, साधर्मी के पवित्र प्रेम के सामने अन्य सब बातों को भूल जाओ......साधर्मी के प्रति वात्सल्य – यह मुमुक्षु जीव का उत्कृष्ट आभूषण है।

महावीर प्रभु के वीतराग शासन में सर्व साधर्मीजन वात्सल्य के पवित्र वातावरण से वीरशासन को शोभायमान करो......!

क्रोधान्ध की कहानी

(क्रोध से तेरा घर जल रहा है)

"जीव क्रोध में अन्ध होकर स्वयं अपना नुकसान करता है" – इस बात को दृढ़ करने के लिए एक स्थूल दृष्टान्त बताते हैं।

दो आदमियों की एक-दूसरे से किसी कारणवशात् दुश्मनी हो गई। दोनों के घर पास-पास में ही थे। एक आदमी ने क्रोध के वशीभूत होकर सोचा कि मैं अपने दुश्मन का घर जला दूँगा। अत: वह दुश्मन के घर के ऊपर अग्नि फेंककर भागने लगा।

लेकिन जब वह अग्नि फेंक रहा था, तब जिसके घर में उसने अग्नि फेंकी, उस घर के मालिक ने उसे देख लिया। अपना घर जलता हुआ देखकर भी क्रोधित होकर उसने सोचा कि यदि अभी मैं अग्नि बुझाने की चिन्ता में यहाँ रुका तो आग लगानेवाला शत्रु तो भाग जायेगा। अत: पहले उसे पकड़ने के लिये वह उसके पीछे भागा।

जब वे दोनों दुश्मन अपने-अपने घर में वापस आते हैं तो देखते

हैं कि दोनों के घर आग की प्रचंड लपेट में आ गये हैं और सब-कुछ भस्म हो गया, तब दोनों अपना-अपना माथा पकड़कर बैठ जाते हैं।

हुआ यह था कि जिसके घर में आग लगी थी, उसने अपने घर की चिन्ता तो नहीं की और पड़ौसी को पकड़ने भागा। जबतक वह वापस आया, उतनी देर में यहाँ आग ने भयंकर रूप धारण कर लिया और बढ़ते-बढ़ते आग की लपटों ने पड़ौसी के घर को भी अपनी चपेट में ले लिया और इसप्रकार दोनों के घर भस्म हो गये।

तब उन्होंने सोचा कि यदि मैं क्रोध में आकर आग लगानेवाले के पीछे न भागा होता तो मेरा घर नहीं जलता।

इसीप्रकार जीव को कुछ भी प्रतिकूलता का प्रसंग आता है तो वह सामनेवाले पदार्थ पर क्रोध करता है। तब वह क्रोध के कारण अपने निजघर की शान्ति को पहले जलाता है। यदि वह स्वयं क्रोधाग्नि को बुझाकर अपने शान्त-परिणाम में ही स्थित रहे तो उसे कोई नुकसान ही न हो और उसे आत्मिक शान्ति की प्राप्ति भी होवे।

अत: प्रतिकूलता में क्रोध करना– यह कोई दु:ख से बचने का उपाय नहीं है, बल्कि शान्ति ही दु:ख से बचने का एकमात्र उपाय है।

हे जीव ! समझ तो सही.......तेरी शान्ति को जगत का कोई शत्रु या कोई पदार्थ नाश करने में समर्थ नहीं है, उस शान्ति को तू स्वयं अपने क्रोध से क्यों नष्ट करता है।

जहाँ क्रोध है, वहाँ दु:ख है। जहाँ शान्ति है, वहाँ सुख है।

सभी आत्मायें बराबर हैं, कोई छोटा बड़ा नहीं। भगवान कोई अलग नहीं होते। जो जीव पुरुषार्थ करें, वही भगवान बन सकते हैं।

भगवान जगत् की किसी भी वस्तु के कर्त्ता-हर्त्ता नहीं हैं, मात्र जानते ही हैं।

रुको ! रुको !! रत्न फेंक मत देना।

एक मनुष्य समुद्र के किनारे बैठा था, उसके हाथ में अचानक एक थैली आयी। थैली में रत्न भरे थे, जो उसे अन्धेरे में दिखाई नहीं दिये और वह रत्नों के साथ खेल खेलने लगा। एक के बाद एक रत्न को समुद्र में फेंकने लगा। आखरी रत्न हाथ में लेकर जैसे ही फेंकने लगा, तभी किसी सज्जन पुरुष ने उसे आवाज दी–

"अरे भाई ठहर ! रत्न फेंक मत देना, तेरे हाथ में कोई साधारण पत्थर नहीं है, यह तो बहुत कीमती रत्न है।"

जब थोड़ा प्रकाश हुआ और उजाले में वह मनुष्य उस सज्जन पर विश्वास करके हाथ की वस्तु को सामने लाकर देखता है, तो वह चकित रह जाता है। वह क्या देखता है कि जगमगाता हुआ महान रत्न उसके हाथ में है, तब वह विचार करने लगा–

"अरे रे ! मैं कितना मूर्ख हूँ, ऐसे रत्नों की तो पूरी थैली भरी थी और मैंने अज्ञानता से मूर्खता करके खेल-खेल में उन सब रत्नों को समुद्र में फेंक दिया। अरे.....हाथ में आये अमूल्य निधान को अज्ञानता से गँवा बैठा।"

इसप्रकार वह रोने लगा, तब उन सज्जन पुरुष ने उसे पुनः समझाया– "भाई ! तू रो मत, तू सब-कुछ नहीं खो बैठा..... तेरे पास अभी भी जो एक रत्न बचा है, वह भी इतना कीमती है कि तू उसकी कीमत समझे और बराबर सदुपयोग करे तो पूरी जिन्दगी भर तुझे सुख और सम्पत्ति मिलती रहेगी। इस एक रत्न से भी तेरा कार्य हो जायेगा, इसलिए जो रत्न चले गये, उनका अफसोस छोड़कर अभी जो रत्न हाथ में है, उसका सदुपयोग कर ले। जब जागे तब सवेरा।"

उसके बाद उसने हाथ में बचे हुए उस एक रत्न का सदुपयोग किया और सुखी हुआ।

इसीप्रकार कोई भद्रपरिणामी आसन्न भव्यजीव इस भवसमुद्र के किनारे आया अर्थात् त्रस पर्याय को प्राप्त हुआ। वहाँ उसे त्रस पर्याय में सर्वोत्कृष्ट मनुष्य भवरूपी रत्न मिला, परन्तु वह जगत के क्षणिक विषय-कषाय के पोषण में ही अपने को रंजायमान करता हुआ उस मनुष्यभवरूपी रत्न को नष्ट करता रहा।

इसप्रकार इस रत्न को नष्ट करते देखकर किसी ज्ञानी ने आवाज दी अर्थात् उस भव्यजीव को देशना मिली कि अरे भाई ठहर ! यह रत्न है, इसे फेंक मत देना। यह मनुष्यपर्याय रूपी अमूल्य रत्न तो बहुत कम जीवों को ही मिलता है और बार-बार नहीं मिलता, मात्र २४ बार ही मिलता है। जरा सोच ! यदि यह तुम्हारा अन्तिम मनुष्य भव हुआ तो फिर क्या होगा ? यह मनुष्यभव रूपी महारत्न तो हाथ से चला जायेगा और फिर तुझे मोक्षमार्ग का अद्‌भुत अपूर्व अवसर कैसे मिलेगा ?

तब वह जीव उस ज्ञानी पुरुष पर विश्वास करके, उसके बताये मार्ग पर चलकर इस मनुष्यभव रूपी हुए रत्न की जो असली कीमत मोक्ष है, उसे पाकर सदा के लिए सुखी हो जाता है।

इसीप्रकार हम भी इस मनुष्य पर्याय का सदुपयोग करेंगे तो अपना हित कर लेंगे, अन्यथा इस कीमती रत्न से हाथ धो बैठेंगे।

हिमालय से ऊँचा

बताइये अपने हिमालय पर्वत की ऊँचाई कितनी ?

'पाँच या छह मील के आस-पास'

अच्छा, शाश्वत जिनमन्दिरों से सुशोभित सुमेरुपर्वत की ऊँचाई कितनी ? क्या हिमालय से कम होगी ?

नहीं, नहीं; हिमालय से तो आठ करोड़ गुना अधिक उसकी ऊँचाई है। यदि हिमालय की ऊँचाई पाँच मील है तो सुमेरुपर्वत की चालीस करोड़ मील !

अरे ! जिनवैभव से भरपूर सुमेरुपर्वत तो मानवलोक की महान शोभा है...... शाश्वत जिनमन्दिरों के कारण वह जगत्पूज्य महान तीर्थ है।

सोने का भाव क्या है ?

यह घटना वीर संवत् २४१९ में कार्तिक वदी ४ के दिन सौराष्ट्र प्रान्त के सोनगढ़ ग्राम की है, उस दिन सायंकालीन चर्चा की शुरुआत में ही वहाँ के आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी बोले– "मुझे एक प्रश्न पूछना है?"

उपस्थित समुदाय आश्चर्यचकित होकर उनका प्रश्न सुनने के लिए आतुर हो गया कि गुरुदेव न जाने क्या पूछेंगे?

थोड़ी देर रुककर गुरुदेव ने पूछा– "सोने का 'भाव' क्या है?"

प्रश्न सुनकर क्षणभर के लिए सभी स्तब्ध रह गये कि गुरुदेवश्री को सोने के भाव से क्या लेना-देना? तब एक श्रोता ने जवाब दिया– "सोने का भाव वर्तमान में क्या है, उसका पता नहीं है।"

दूसरे भाई बोले– "आज अखबार में देखा नहीं।"

तीसरे भाई बोले– "अरे सोने का भाव १२९ रु. तोला है।" (उस समय सोने का भाव १२९ रु तोला ही था।)

तब गुरुदेव समझाते हुए बोले– "भाई ! हमारे पूछने का मतलब सोने के मोल से नहीं है। सोने का भाव तो सोने में रहता है, सोने का भाव कोई सोने से अलग नहीं हो सकता।

सोने के रजकणों (परमाणुओं) में जो वर्ण-रस-गंध-स्पर्श है, वही तो सोने के भाव हैं। 'भाव' अर्थात् वस्तु के गुण।

इसप्रकार आत्मा का भाव क्या? तो ज्ञान-दर्शन आदि चैतन्य भाव ही आत्मा के भाव हैं। अरे, आत्मा का 'भाव' क्या है– इसकी भी तुझे खबर नहीं है ? प्रत्येक वस्तु के गुण ही उस वस्तु के स्वभाव हैं।

आत्मा का भाव अनन्त ज्ञानादिरूप त्रिकाल है। क्षणिक रागादिक विकार आत्मा के वास्तविक भाव नहीं हैं। रागभाव के द्वारा आत्मा की असली कीमत नहीं जानी जा सकती है।

वस्तु को उसके सच्चे भाव के द्वारा जानना चाहिये। जिसप्रकार लाख रुप्ये की कीमत का हीरा हो और कोई उसकी कीमत पाँच पैसे लगावे तो उसे हीरे के भाव का पता नहीं है। उसीप्रकार चैतन्य-हीरा अनन्त ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न है और उसकी कीमत राग के बराबर लगावे तो उसे चैतन्य-हीरे के असली भाव का पता नहीं है, उसने आत्मा का भाव अर्थात् आत्मा के गुणों को जाना नहीं। तथा वस्तु का 'भाव' जाने बिना वस्तु की प्राप्ति नहीं होती।

प्रत्येक वस्तु में अपना द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव होता है और उसके द्वारा ही वह वस्तु जानी जाती है।

आत्मा गुण-पर्यायों को धारण करनेवाला द्रव्य है। असंख्य-अरूपी चैतन्यप्रदेश उसका क्षेत्र है। वर्तमान पर्यायरूप परिणमना उसका काल है। ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण हैं, वे उसके भाव हैं।

इसप्रकार 'सोने का भाव क्या है?' – इस दृष्टान्त के द्वारा गुरुदेव ने आत्मा का भाव समझाया था।

कई बार लोग कहते हैं कि हमारा तो कोई 'भाव' ही नहीं पूछता? परन्तु भाई! तूने कभी स्वयं अपना 'भाव' पूछा है? तेरा स्वयं क्या भाव है– इसकी ही तुझे खबर नहीं है। सबसे पहले तू तो अपने 'भाव' को जान। दूसरा भले ही पूछे या न पूछे, परन्तु तेरा भाव तो तेरे में ही है। अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द के भाव तेरे में भरे हैं– उनकी अपार महिमा है। जड़ भावों से भिन्न और राग भाव से भी भिन्न परम आनन्द से भरा हुआ तेरा चैतन्यभाव है – यही तेरा सच्चा भाव है।

पुण्य या शुभराग के द्वारा तुम आत्मा को चाहो तो ये ठीक नहीं है। ये आत्मा के सच्चे भाव नहीं हैं।

ज्ञानरूप भाव ही आत्मा का सच्चा भाव है। उस भाव के द्वारा ही आत्मा की प्राप्ति (अनुभव) होती है। ऐसे तेरे आत्मभाव को तू जान!

मुनिराज और ४० लुटेरे

(अहिंसा धर्म की कहानी)

एक जंगल में ४० लुटेरे रहते थे, वे क्रूर परिणामी ओर माँसाहारी थे। जंगल में वे शिकार की खोज में घूमते रहते थे।

एक सन्त उस जंगल में से निकल रहे थे। आत्मा को जाननेवाले और वीतरागभाव में रहनेवाले उन सन्त पर दुष्ट लुटेरों की नजर पड़ी, इसलिए वे उनको मारकर, उनका माँस खाने के लिए उनके पीछे पड़ गये।

धर्मात्मा सन्त महामुनि तो अपने ऊपर उपसर्ग समझकर शान्ति से ध्यान में स्थिर हो गये और यहाँ लुटेरे उनको मारने की तैयारी करने लगे...लेकिन....उसी समय वहाँ एक राजा का आगमन हुआ। राजा सज्जन, बुद्धिमान और बहादुर था। मुनिराज और लुटेरों को देखकर वह तुरन्त परिस्थिति समझ गया। दुष्ट लुटेरों के पंजों से मुनि की रक्षा करने के उद्देश्य से उसने लुटेरों को बहुत समझाया कि इन निर्दोष धर्मात्मा को परेशान मत करो, लेकिन माँस के लोभी दुष्ट लुटेरे किसी प्रकार मानने को तैयार नहीं थे और वे मुनि को मारने के लिए उद्यत हुए।

उस समय राजा से रहा नहीं गया, उसने मुनि की रक्षा करने के लिए लुटेरों का सामना किया। ४० लुटेरे राजा के ऊपर एक साथ टूट पड़े, लेकिन बहादुर राजा ने उन सभी लुटेरों को मार कर मुनिराज की रक्षा की तथा लुटेरे किसी को भी मार न सके।

इस कहानी को ध्यान में रखकर हम सभी को यहाँ इस बात का विचार करना है कि–

१. राजा द्वारा ४० लुटेरे मारे गये। २. लुटेरों के द्वारा एक भी मनुष्य नहीं मरा, अत: उन दोनों में ज्यादा हिंसक हम किसे मानेंगे? राजा को या लुटेरों को ?

विचार करने पर भी हम लुटेरों को ही अधिक हिंसक कहेंगे, राजा को नहीं, बल्कि उसके कार्य की प्रशंसा ही करेंगे। और मुनिराज तो वीतरागी अहिंसक हैं।

लेकिन हमें तो यह जानना है कि–

४० मनुष्यों को मारने पर भी राजा को कम हिंसा क्यों लगी ?

लुटेरों के द्वारा कोई भी मनुष्य नहीं मारा गया, फिर भी उन्हें ज्यादा हिंसा क्यों लगी ?

-और तो मुनिराज को वीतरागी अहिंसक क्यों कहा है ?

ऊपर के प्रश्नों का खुलासा निम्नप्रकार है:–

"ज्यादा जीव मरें, तब ज्यादा हिंसा और कम जीव मरें, तब कम हिंसा"- ऐसा नियम नहीं है। यदि ऐसा होवे तो राजा बड़ा हिंसक ठहरे, लेकिन ऐसा नहीं है, फिर कैसा है ?

ज्यादा कषाय से ज्यादा हिंसा। कम कषाय से कम हिंसा। अकषायरूप वीतरागभाव से अहिंसा। – ऐसा सिद्धान्त है।

लुटेरों ने मुनि को मारने के भाव से ज्यादा कषाय की, इसलिए उन्हें ज्यादा हिंसा लगी और वे नरक में गये।

राजा ने कम (मन्द) कषाय की, इसलिए उसे कम हिंसा लगी, क्योंकि उसने मुनि को बचाने का शुभभाव किया था, इसलिए वह स्वर्ग में गया; परन्तु उसने जितनी कषाय की उतनी तो हिंसा ही हुई, क्योंकि कषाय स्वयं ही हिंसा है।

जिसने राग-द्वेष नहीं किया –ऐसे मुनिराज परम-अहिंसक रहे हैं और मोक्ष प्राप्त किया।

इसप्रकार अकषायरूप वीतरागभाव ही अहिंसा है और वही मोक्ष का कारण है।

●

पाँच पाण्डव मुनिराज

(अहिंसा धर्म की कहानी)

जिस समय युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल, सहदेव– इन पाँचों पाण्डवों ने द्वारिका नगरी के भस्म होने की और श्रीकृष्ण महाराज की मृत्यु की बात सुनी, उसी समय संसार की क्षणभंगुरता को देखकर उनका चित्त संसार से उदास हो गया और वे श्री नेमिनाथ भगवान के समवशरण में आ गये, संसार से विरक्त हुए उन्होंने मुनिदशा धारण करके सोनगढ़ के पास सिद्धक्षेत्र शत्रुंजय पर्वत पर अपने आत्मा के अखण्ड-ध्यान द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। वहाँ अनेक भक्तजनों ने अत्यंत हर्षपूर्वक पाण्डव मुनि भगवन्तों के दर्शन किए।
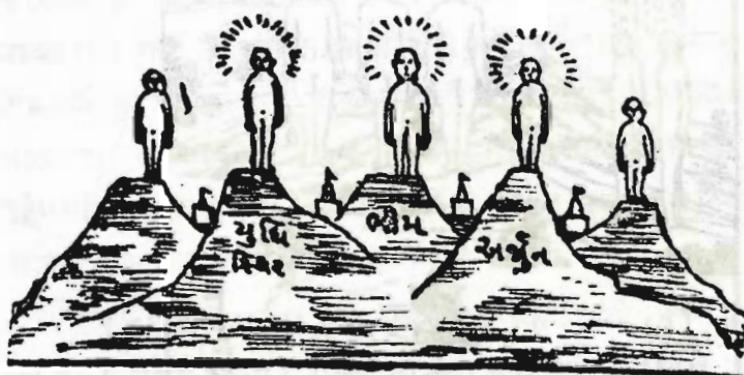
लेकिन दुर्योधन के भानजे के मन में पाण्डवों को देखकर ऐसा दुष्ट विचार आया कि इन पाण्डवों ने मेरे मामा को मारा है, इसलिए अब मैं इनसे बदला लूँगा, क्योंकि मुनिदशा में ये किसी प्रकार का प्रतिकार नहीं करेंगे। – ऐसे दुष्ट विचारपूर्वक उसने पाण्डवों के शरीर में ध्यान के समय लोहे के धधकते गहने पहना दिये। मस्तक पर लोहे के धधकते मुकुट पहनाये और हाथ-पैरों में गर्म कड़े पहनाये। इस प्रकार उसने पाण्डवों को

जीते-जी मार डालने का घोर उपसर्ग किया। धधकते मुकुट से उनके मस्तक जलने लगे और धधकते गहनों से उनके हाथ पैर भी जलने लगे। तब....

(१) युधिष्ठर, भीम, अर्जुन तो चिदानन्द तत्त्व की शान्त अनुभूति में लीन हो गये और उपसर्ग के ऊपर उनका लक्ष्य भी नहीं गया और क्षपक श्रेणी माँडकर सम्पूर्ण वीतरागी हो गये। केवलज्ञान प्राप्त कर तत्क्षण मोक्ष को प्राप्त हुए। इसप्रकार वे चैतन्यभाव से जरा भी डिगे नहीं, अतः उनको राग की उत्पत्ति ही नहीं हुई, इसलिए वे परम अहिंसक हुए।

(२) दूसरी तरफ नकुल और सहदेव– दोनों भाइयों ने भी शान्ति से उपसर्ग सहन किया, दुश्मन पर क्रोध नहीं किया; लेकिन उन्हें ऐसा विचार आया कि इस उपसर्ग में हमारे भाइयों का क्या हो रहा होगा? इस प्रकार उनके संज्वलनरूप मोह रह गया, इसलिए उनको राग की उत्पत्ति

हुई। तब वे पूर्ण वीतरागभाव में स्थिर न रह सके, पर मात्र विकल्प से चैतन्यभाव की सूक्ष्महिंसा की; इसलिए उन्हें संसार में सर्वार्थसिद्धि का भव मिला, मोक्ष नहीं हुआ, संसार में रहे।

हाँ, उन्होंने तीव्र उद्वेग का भाव भी नहीं किया, तीन पाण्डवों को बचाने की चेष्टा भी नहीं की, इसलिए उन्हें भी वीतरागता थी और वह अहिंसा थी।

(३) तीसरे प्रकार के जीव जो वहाँ थे, उन्होंने यह उपसर्ग देखकर उपसर्ग करनेवालों पर तीव्र क्रोध किया तथा पाण्डवों को जलता देखकर बहुत उद्वेग का भाव किया, भक्ति से उन्हें बचाने की चेष्टायें की।

इन जीवों ने यद्यपि किसी जीव को मारा नहीं है, तथापि जितने क्रोधादिभाव किये, उतने अंश में चैतन्यभाव की हिंसा की। अतः दूसरे नम्बरवाले जीवों की अपेक्षा इन जीवों ने अधिक हिंसा की। उनका परिणाम शुभ होने पर भी हम उन्हें अहिंसक नहीं कहेंगे, क्योंकि अहिंसा तो अपने वीतरागभाव को ही स्वीकार करती है। इसलिए किसी जीव को बचाने के उद्वेग परिणामवाला जीव अहिंसक नहीं हो सकता। स्वरूप में स्थित वीतराग परिणामवाला जीव ही पूरा अहिंसक होता है।

(४) चौथे प्रकार का जीव वह है कि जिसने मुनिराज को मारने का क्रूर परिणाम किया। उसकी तो क्या बात कहें ? उन्हें तो तीव्र से तीव्र हिंसा हुई।

अतः जिन्हें सच्चा अहिंसक होना हो, उन्हें....

(१) किसी भी राग को परमधर्मरूप अहिंसा नहीं मानना चाहिए।
(२) 'जितना राग, उतनी हिंसा' –ऐसा समझकर उसे छोड़ना चाहिए।
(३) 'जितनी वीतरागता, उतनी अहिंसा' –ऐसा समझकर उसका आदर करना चाहिये। उसके द्वारा ही भव से पार हुआ जा सकता है।

शत्रुंजय सन्देश

(शत्रुंजय-पालीताना जहाँ मोहशत्रु को जीतनेवाले पाण्डव भगवन्तों की धीरता और वीरता की याद आती है।)

विक्रम सं. २०२९ के माघ बदी १४ के दिन पालीताना (गुजरात) में शत्रुंजय पर्वत की तराई में एक श्वेताम्बर मन्दिर के निर्माणकार्य में अकस्मात् एक दुर्घटना हो गयी थी, उसमें सैंकड़ों मनुष्य दब गये, कितने ही मनुष्य, बालक, जवान, वृद्ध मरण को प्राप्त हुए।

उस समय सौराष्ट्र के साथ पूरे देश में हजारों-लाखों लोगों में करुण हाहाकार छा गया था........लोगों से जितनी सेवा बन सकती थी, वह की गई, आश्वासन भी दिये गये। आर्य मनुष्यों को करुणा आवे और वैराग्य जागे– ऐसी करुण घटना घट गई थी।

इस घटना से भी अधिक गंभीर घटनायें कहीं भूकम्प से और कहीं बाढ़ दुर्घटना से उसी समय हुई थीं। दुनियाँ में हमेशा ऐसे प्रसंग बनते रहते हैं, क्योंकि संयोग तो क्षणभंगुर ही हैं। तथा ऐसे क्षणभंगुर प्रसंगों में लोगों को तात्कालिक भावनाओं का ज्वार उभरता भी है और थोड़े दिनों में शान्त भी हो जाता है।

पालीताना की दुर्घटना से उभरी करुण भावनाएँ भी थोड़े समय में शान्त हो गयी। क्षणिक करुणा या आघात के मनोभावों से आगे बढ़कर कोई यह नहीं सोचता कि आखिर ऐसा हुआ ही क्यों?

अरे, ज्ञानियों ने सारी वस्तु-स्थिति कोई भिन्न ही बताई है। भाई ! दुख मरण का नहीं, दु:ख तो मोह का है।

यह वही शत्रुंजय पर्वत है, जिसके 'शिखर' पर आज से ८४००० वर्ष पहले (तीर्थंकर नेमिनाथ के शासनकाल में) पाण्डव मुनिराजों ने कठोर तपश्चरण किया था। जिनकी देह तो अग्नि में जलती रही, लेकिन जो उसी समय चैतन्य की शान्ति में लीनतापूर्वक देह छोड़कर मोक्ष सिधार

गये.....मोह शत्रु को जीतकर सिद्धपद प्राप्त किया और आज इसी शत्रुंजय पर्वत की तलहटी में अनेक मनुष्यों ने मोह के कारण अत्यंत दुःखी होकर प्राण छोड़े।

शत्रुंजय पर्वत पर प्राण तो दोनों के छूटे, लेकिन पाण्डव भगवंतों ने तो देह से भिन्न चैतन्य की ऐसी आराधनापूर्वक देह छोड़ी कि भव से पार होकर सिद्धपद को पा लिया और इस शत्रुंजय को भी तीर्थरूप 'सिद्धक्षेत्र' बना दिया। आज हजारों वर्ष से हम भी शत्रुंजय पर्वत की यात्रा के द्वारा उनकी आराधना को याद करते हैं। लेकिन इस दुर्घटनावाले जीव ऐसा नहीं कर सके, उन्होंने मोह के कारण दुःख से प्राण छोड़े, इसलिए वह दुःखद घटना कही जाती है और उसको कोई अधिक काल तक याद भी नहीं करता।

इसप्रकार जीवों के अंतरंग परिणामों के अनुसार जगत की एक ही प्रकार की घटनाओं में भी कैसा महान् अन्तर हो जाता है। उसका विचार करें तो यह मोहशत्रु को जीतनेवाला 'शत्रुंजय' वीतरागी पाण्डव मुनि भगवन्तों की याद दिलाकर हमें भी उस उत्तम आराधना की भावना जगाता है। मात्र करुणा की भावना तो लोक में सबको आती है, लेकिन 'शत्रुंजय' तो हमको स्थिरता, एकाग्रता और वीरता के द्वारा मोहशत्रु को जीतने का धर्म-संदेश देता है।

युधिष्ठिर : "युद्ध के बीच में भी जो स्थिर रहे, वह युधिष्ठिर है।" आध्यात्मिक दृष्टि से अनेक प्रकार के संयोग-वियोग तथा परभावरूप युद्ध के बीच में जो अपने ज्ञान को स्थिर रखे तथा परभावों से किंचित् भी चलित नहीं होवे ऐसा युधिष्ठिर ही स्थिर उपयोग के द्वारा शत्रुओं को जीतकर सिद्धपद को प्राप्त करता है। इसप्रकार युधिष्ठिर अर्थात् 'युधि-स्थिर' बनने का सन्देश यह सिद्धक्षेत्र देता है।

भीम : जो किसी से डरे नहीं, जिसे कोई जीत नहीं सके, जो राक्षसी वृत्तियों का नाश करे, जो प्रतिकूलता के युद्ध के बीच में भी निडरता

से अपने आत्मबलरूप पराक्रम के द्वारा मोह-क्रोधादि शत्रुओं को जीते, –ऐसे भीम ने मोक्ष को पाया। उनकी मोक्षभूमिरूप यह शत्रुंजय तीर्थ ऐसा सन्देश देता है कि हे जीवो ! यदि तुम भी भीम के समान निडर और पराक्रमी होना चाहते हो तो किसी भी परिस्थिति में शान्तभाव से आत्मा को साधो; क्योंकि वीतरागभावरूप बहादुरी ही मोक्ष का उपाय है।

अर्जुन : जो बाण चलाने में कुशल हो, जिसका लक्ष्य कभी खाली न जाय, जो लक्ष्य के प्रति अपने लक्ष को एकाग्र करके उसे साधे। इसप्रकार अर्जुन ने अन्दर में एक चैतन्य को ही लक्ष्य बनाकर, अन्य सभी पदार्थों से लक्ष को हटाकर, उस लक्ष्य में ही लक्ष (ध्यान) को एकाग्र करके सिद्धपद को साधा – ऐसे लक्ष्यभेदी अर्जुन भगवान का संदेश यह सिद्धक्षेत्र सुनाता है कि "हे जीवो !! तुम्हारे इष्ट की सिद्धि के लिए जगत को भूलकर, संयोग से लक्ष्य हटाकर, चैतन्य स्वभावरूप एक लक्ष्य में ही लक्ष को एकाग्र करके ध्यानरूपी तीर चलाकर ही तुम्हें तुम्हारे इष्ट की सिद्धि होगी। सिद्धपद प्राप्त होगा और तुम मोह शत्रुओं को जीत लोगे।"

यह है शत्रुंजय संदेश : बाकी दो भाई नकुल और सहदेव को मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ, वे स्वर्ग गये, क्योंकि 'हमारे भाईयों' का क्या हो रहा होगा ? ऐसे विचार में ही वे रुक गये......और लक्ष की एकाग्रता से चूक गये– इससे हमें यह संदेश मिलता है कि हे जीवो ! पर की चिन्ता में रुकना नहीं.....स्वलक्ष को ही साधने में 'स्थिर' रहना और 'पराक्रम' के द्वारा उपयोग को 'एकाग्र' करना।

इसप्रकार 'युधिष्ठिर' 'भीम' और 'अर्जुन', शत्रुंजय के शिखर पर से 'स्थिरता' 'वीरता' और 'एकाग्रता' का महान सन्देश देते हैं।

शत्रुंजय से तीन पाण्डव भगवन्तों और दूसरे आठ करोड़ मुनिवरों ने सिद्धि प्राप्त की है, इसलिए वह पवित्र सिद्धक्षेत्र है और वीतरागता का संदेश देता है।

(जय शत्रुंजय !........जय पाण्डव भगवन्त !!)

चैतन्य-हीरा

(जन्म-दिवस पर माता का आशीर्वाद)

(जब भारत भर में भगवान महावीर का २५०० वाँ निर्वाण महोत्सव मनाया जा रहा था, उस समय हमारे साहित्य को पढ़कर मद्रास के एक उत्साही युवा भाई ने बहुत ही हर्षोल्लास से कॉलेज की परीक्षा की तैयारी करते-करते 'चैतन्य-हीरा' नामक एक कहानी लिखकर हमें भेजी, उसी कहानी को हम संशोधनपूर्वक यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

'चैतन्य-हीरा' की कीमत तो ज्ञानी ही समझा सकते हैं। सारी दुनियाँ के रुपये-पैसे या जड़ रत्नों से 'चैतन्य-हीरे' की कीमत नहीं हो सकती है। उसकी कीमत तो स्वानुभूति से ही हो सकती है। अहा ! जिसकी कीमत केवली भगवान के बराबर है –ऐसा कीमती 'चैतन्य-हीरा' हमारे पास ही है। फिर भी, हे मूर्ख जीव ! तू बाह्य संपदा से सुख की भीख क्यों माँगता है ? सुख प्राप्त करना हो तो अटूट आनन्द से परिपूर्ण 'चैतन्य-हीरे' को परख ले, बाहर में गोते खाते-खाते व्यर्थ में ही समय मत गवाँ।

–ऐसी समझ और प्रेरणा देनेवाली 'चैतन्य-हीरे' की यह कहानी है।)

भारत में एक नगर था, स्वर्ग के समान इस सुन्दर नगर में दो मित्र रहते थे। एक का नाम था जिनकुमार, दूसरे का लक्ष्मीकुमार।

जिनकुमार की माता हीराबाई ने उसे धर्म के अच्छे संस्कार दिये थे। वह गरीब था, उसके पास धन-वैभव बहुत न था, घर भी छोटा, फिर भी उसके घर में धर्म के उत्तम संस्कार से उसका जीवन सुखी था। गरीब होने पर भी धर्म-संस्कार को धारण करने के कारण वह संतोषी और सुखी था।

दूसरा मित्र था लक्ष्मीकुमार। उसके घर में धन-वैभव, हीरे-जवाहरात की बहुलता थी, लेकिन सुख नहीं था; क्योंकि उस घर में धर्म के संस्कार बिल्कुल नहीं थे। बाह्य वैभव के मोह से वह दुःखी था।

जिस दिन लक्ष्मीकुमार का जन्मदिन था, उसी दिन जिनकुमार का भी जन्मदिन था। दोनों मित्रों ने मिलकर बहुत आनंद मनाया। जन्मदिन की खुशी में लक्ष्मीकुमार के पिता धनजी सेठ ने उसे कई प्रकार की मिठाईयाँ खिलाई, कीमती वस्त्र पहनाये और एक सुन्दर अंगूठी पहनाई, जिसके बीच में एक सुन्दर हीरा जगमगा रहा था।

उसी समय उसके घर के पास में ही जिनकुमार के छोटे मकान में भी उसका जन्मदिन मनाया जा रहा था, लेकिन उसके पास अच्छे वस्त्र नहीं थे और मिठाई भी नहीं थी, वहाँ तो उसकी प्रिय माता अपने लाड़ले पुत्र को प्रेमपूर्ण अशीषपूर्वक ज्ञान का मधुर-रस पिला रही थी।

भक्तिभाव से चरणों में नमस्कार करनेवाले पुत्र से माता कहती है– "बेटा ! बाजू के महल में जैसे बाह्य ठाट-बाट से तुम्हारे मित्र का जन्मदिन मनाया जा रहा है, वैसा ठाट-बाट तुम्हारे जन्मदिन पर अपने इस झोपड़े में नहीं है, परन्तु इससे तू ऐसा मत मानना कि हम गरीब हैं। बेटा ! तू सचमुच गरीब नहीं, तेरे पास तो अपार सम्पति है।"

जिनकुमार ने आश्चर्य से कहा– "वाह ! यहाँ हमें खाने के लिए भी मुश्किल से मिलता है, फिर भी तुम कहती हो कि हम गरीब नहीं हैं?"

माता ने कहा – "बेटा ! तुझे पता है कि तू कौन है ?"

पुत्र ने कहा – "मैं जिनकुमार हूँ।"

माता ने कहा – "यह तो तुम्हारा नाम है, लेकिन तेरे में क्या है, क्या उसकी तुझे खबर है ?"

वह तो जिनवर की संतान था, उसकी माता ने उसे धर्म के संस्कार दिये थे '**जैन बालपोथी**' के पाठ वह जानता था।

तब माता को जवाब देते समय उसने उत्साह से कहा–

"हे माता ! आप से ही मैंने सीखा है कि **मैं जीव हूँ, मेरे में ज्ञान है, मैं जिनवर की संतान हूँ।**"

माता ने कहा – "धन्य बेटा ! तुम्हारे धर्म-संस्कार देखकर मैं गौरव का अनुभव करती हूँ। बाहर के धन से भले ही हम गरीब हों, लेकिन अंदर के ज्ञान-वैभव से हम गरीब नहीं हैं। तुझमें अनन्त चैतन्य गुण हैं, उसे जानकर तू सम्यक्त्व रत्न प्राप्त कर और उसके आनन्द को भोग ! ये ही तुम्हारे जन्मदिन पर मेरी भेंट है। तेरा 'चैतन्य-हीरा' तू प्राप्त कर और सुखी हो...... यही मेरा मंगल आशीष है।"

"वाह ! मेरी माता ने मुझे चैतन्य-हीरा दिया।" –ऐसा विचार कर वह बहुत खुश हुआ।

उसी समय उसका मित्र लक्ष्मीकुमार भी वहाँ मिठाई लेकर आया। दोनों मित्र आनन्द से एक-दूसरे से मिले। लक्ष्मीकुमार ने हीरामाता के चरणस्पर्श किये और माता ने उसे आशीर्वाद दिया।

लक्ष्मीकुमार ने कहा– "माताजी ! हमारे यहाँ से आपके लिए मिठाई भेजी है।"

माताजी ने मिठाई लेकर दोनों बालकों के मुँह में खिलाई, और पूछा– "बेटा तुम्हारे पिताजी ने आज तुम्हें क्या भेंट दी ?"

लक्ष्मीकुमार ने कहा– "माँ, पिताजी ने मुझे एक सुन्दर अंगूठी दी है, उसमें कीमती हीरा जड़ा है।" तब उसने जिनकुमार से पूछा– "तुम्हारी माँ ने तुम्हें क्या भेंट दी ?"

जिनकुमार ने कहा– "भाई ! हमारे पास ऐसे हीरे-जवाहरात तो नहीं हैं, परन्तु हमारी माता ने आज मुझे मेरा 'चैतन्य-हीरा' बताया है। वास्तव में चैतन्य-हीरा देकर माता ने मुझ पर महान उपकार किया है। अहा ! चैतन्य-हीरा की क्या बात ?"

इसप्रकार आनन्द से बातचीत करते-करते दोनों मित्र घूमने चले गये। वे गाँव के खुले मैदान में खूब घूमे, खूब बातें करी और जब दिन ढ़लने लगा तो दोनों मित्र अपने-अपने घर वापिस चल दिये।

जिनकुमार के घर में तो कोई रात्रिभोजन करता नहीं था, वह तो घर जाकर माताजी के पास धर्मकथा सुनने बैठ गया।

यहाँ लक्ष्मीकुमार के घर भोजन की तैयारी चल रही थी, बहुत मेहमान उपस्थित थे। भोजन के पहले जब लक्ष्मीकुमार हाथ धो रहा था, तभी उसके पिताजी की नजर उसके हाथ पर पड़ी और हाथ की अंगूठी में हीरा न देखकर उन्होंने तुरन्त पूछा– "बेटा, तुम्हारी अंगूठी में से हीरा कहाँ गया।"

तब लक्ष्मीकुमार ने अपनी अंगूठी की तरफ देखा, उसमें हीरा न देखकर वह डर गया– "अरे! अंगूठी में तो हीरा नहीं है। बापू! हीरा कहाँ गया, इसका मुझे ख्याल नहीं है।"

उसकी बात सुनकर पिताजी बहुत क्रोधित हुए। अरे ! आज ही सवेरे ऐसे अनमोल हीरेवाली अंगूठी दी, उसका हीरा शाम को खो गया, – यह उनसे सहन न हुआ। ऐसे स्थिति में वे समाधान भी कैसे करते ? धर्म के संस्कार तो उनमें थे नहीं, इसलिए जिस पुत्र के जन्म का आनन्द मना रहे थे, उसी पुत्र पर क्रोध करने लगे। वह डर गया और रोने लगा।

अरे धिक्कार है ऐसे संसार को ! जहाँ हर्ष-शोक की छाया बदलती ही रहती है।

हीरे की खोजने हेतु पूछताछ चालू हुई। लक्ष्मीकुमार ने बताया कि वह तो आज अपने मित्र जिनकुमार के घर के अलावा दूसरी जगह गया ही नहीं था।

लक्ष्मीकुमार के पिता ने सोचा– "जिनकुमार बहुत गरीब है, इसलिए उसकी माता ने अवश्य ही लक्ष्मीकुमार की अंगूठी में से हीरा निकाल लिया होगा और अपने पुत्र जिनकुमार को दे दिया होगा।"

–ऐसा विचार कर लक्ष्मीकुमार के पिता उसके ऊपर क्रोध करके, उसकी निन्दा करने लगे। तब उन्होंने लक्ष्मीकुमार से कहा–

"जाओ, तुम्हारे मित्र जिनकुमार को बुलाकर लाओ।"

तब लक्ष्मीकुमार ने डरते-डरते पिता से कहा– "बापूजी ! मेरा मित्र बहुत संस्कारी है, उसने मेरा हीरा नहीं लिया।" क्योंकि मित्र के ऊँचे संस्कार की अच्छी छाप उस पर पहले से ही पड़ी थी। फिर भी, उसके पिताजी ने डाँटकर कहा– "उसके अलावा हीरा किसी दूसरे के पास जा नहीं सकता। इसलिए तुम जल्दी से जाकर उसे बुला लाओ।"

लक्ष्मीकुमार तो घबराया हुआ जिनकुमार के घर आया, उसे देखते ही जिनकुमार बहुत आनंदित हुआ और कहा– "आओ मित्र ! लेकिन इस समय अचानक तुम कैसे आये ?"

लक्ष्मीकुमार ने कहा– "जिनकुमार ! मेरे पिताजी ने तुम्हें अभी बुलाया है, इसलिए मेरे साथ चलो।"

दोनों मित्र चलने लगे, रास्ते मे जिनकुमार ने कहा– "मित्र ! तू घबराया हुआ-सा क्यों दिख रहा है ?"

लक्ष्मीकुमार ने कहा– "भाई क्या कहूँ ? मेरा हीरा गुम हो गया है, इसलिए उन्होंने तुम्हें बुलाया है।"

वहाँ पहुँचने पर धनजी सेठ ने पूछा– "जिनकुमार ! बोलो तुम्हें हीरा मिला है ?"

निर्दोष जिनकुमार के मन में तो सुबह से उसकी माता की बतलायी 'चैतन्य-हीरे' की बात घूम रही थी, उसी धुन में उसने कहा – हाँ, पिताजी! मेरी माताजी ने आज ही मुझे एक अद्भुत हीरा बताया है।"

जवाहरात का हीरा तो उसने देखा ही नहीं था। उसके मन में तो 'चैतन्य-हीरा' ही घूम रहा था, लेकिन धनजी सेठ के मन में अंगूठी का हीरा घूम रहा था। चैतन्य-हीरे की बात तो उन्होंने सुनी ही नहीं थी, इसलिए उन्होंने तुरन्त कहा–

"भाई, जिनकुमार ! वह हीरा लक्ष्मीकुमार का है, उसे दे दो।

जिनकुमार ने कहा– "बापूजी ! वह तो हमारा हीरा है, आपके लक्ष्मीकुमार का हीरा मेरे पास नहीं है, परन्तु आप मेरी माताजी के पास आवें तो वह लक्ष्मीकुमार का हीरा भी बतावेगी।"

जिनकुमार की बात सुनकर लक्ष्मीकुमार को लगा शायद जिनकुमार ने मेरा हीरा चुराया है और उसके द्वारा निश्चय ही मेरा हीरा मुझे प्राप्त होगा।

वह जिनकुमार के साथ गया और पूछा– "जिनकुमार ! मेरा हीरा कहाँ है ? मुझे बताओ।"

जिनकुमार ने कहा– "भाई तुम्हारा हीरा हमारे पास नहीं है, तुम्हारे पास ही है और मैं तुम्हें वह बताऊँगा।

लक्ष्मीकुमार आश्चर्य से कहने लगा– "अरे ! क्या मेरा हीरा मेरे ही पास है ?......जल्दी बताओ, कहाँ है? इस अंगूठी में तो वह है नहीं।"

जिनकुमार ने कहा– "भाई ! वह हीरा अंगूठी में नहीं रहता, अंगूठी तो जड़ है, तुम्हारा चैतन्य-हीरा तुम्हारे अंदर में हैं।

लक्ष्मीकुमार ने कहा – "उसे किसप्रकार देखें?"

जिनकुमार ने कहा– "आँख बंद करके अंदर देखो।"

लक्ष्मीकुमार बोला– "अंदर तो अँधेरा दिखता है।"

जिनकुमार ने कहा– "भाई ! अँधेरा दिखता है, लेकिन उसे देखनेवाला कौन है ? क्या उसे देखनेवाला स्वयं अंधेरारूप है ? या अंधकार से भिन्न है?

लक्ष्मीकुमार ने भी सोचकर कहा– "वह तो अंधकार से भिन्न है......जाननेवाला है।"

तब जिनकुमार ने समझाया– "बस, अंधकार के समय भी जो

जानता है, वही जाननहार हमारा 'चैतन्य-हीरा' है। इसलिए चैतन्य-प्रकाशी हीरा तू ही है। तुम्हारा हीरा खोया नहीं, वह तो तेरे में ही है। अनन्त गुणों के तेज से तेरा चैतन्य-हीरा चमक रहा है।"

जिनकुमार की सरस बात सुनकर लक्ष्मीकुमार बहुत खुश हुआ, और "हमारा चैतन्य-हीरा हमारे में ही है" –यह जानकर वह अपूर्व आनंदित हुआ, तब अपने में 'चैतन्य-हीरे' की प्राप्ति होने से जड़ हीरे से उसका मोह टूट गया।

दोनों मित्र आनन्द से गाने लगे–

मैं चैतन्य-हीरा हूँ, अंनत गुणों का धारी हूँ।
ज्ञानप्रकाश से चमकता हूँ, स्व-पर का प्रकाशक हूँ॥
जड़ हीरे से भिन्न हूँ, जीव से कभी न भिन्न हूँ।
अद्‌भुत सुख-निधान हूँ, सच्चा चैतन्य-हीरा हूँ॥

फिर वे दोनों आनंदपूर्वक लक्ष्मीकुमार के घर गये, लक्ष्मीकुमार ने पिता से कहा– "पिताजी, मेरा असली हीरा मुझे मिल गया।"

जिनकुमार के पास से तुझे हीरा मिला, इसलिए अवश्य ही उसकी माता ने वह चुराया होगा– ऐसा विचार कर सेठ ने क्रोधपूर्वक डाँटने-फटकारने के लिए जिनकुमार की माँ हीराबाई को बुलवाया।

परन्तु यह क्या ? वे आवें, इसके पहले ही लक्ष्मीकुमार की माँ हाथ में जगमगाते पत्थर को लेकर आ गई और कहने लगी– "यह अँगूठी का हीरा मिल गया, इसलिए क्रोध न करो, अँगूठी में से निकल गया होगा। अभी घर की सफाई करते समय मिल गया।"

घर में ही हीरा मिलने से सभी बहुत खुश हुए। उसी समय हीराबाई वहाँ आ पहुँची, तब सेठजी दयनीय होकर बोले –

"हे माँ ! मुझे माफ कर दो, हमारा हीरा हमारे घर में ही था, परन्तु भूल से हमने तुम्हारे ऊपर आरोप लगाया।"

हीराबाई ने गंभीरता से कहा– "भाई ! आज खुशी का दिन है, इसलिए दुःख छोड़ो। हमें आज की घटना से यह शिक्षा लेना चाहिये कि हमारा चैतन्य-हीरा हमारे में ही है, उसे बाहर नहीं खोजें। जगत के किसी पदार्थ के द्वारा जिसकी कीमत नहीं लगाई जा सकती– ऐसा 'चैतन्य-हीरा' प्रत्येक आत्मा स्वयं ही है। अंतर के चैतन्य-प्रकाश के द्वारा उसे प्राप्त करना चाहिये।"

इतना कहकर हीराबाई अपने घर जाने लगी, तब सेठजी ने निवेदन किया– "हमारे घर भोजन करके जावें।"

(वहाँ रात्रि में भोजन की तैयारी चल रही थी)

माता ने कहा– "हम रात्रि में भोजन कभी नहीं करते।"

सेठजी ने कहा– "बेटा जिनकुमार ! तू तो रुक जा।"

जिनकुमार गौरवपूर्वक बोला– "पिताजी, हम तो 'जिनवर की संतान' हैं और जिनवर की संतान होने से चार बातों का हमेशा पालन करते हैं–

(१) प्रतिदिन भगवान के दर्शन करते हैं।
(२) तत्त्वज्ञान का अभ्यास करते हैं।
(३) रात्रि-भोजन कभी नहीं करते हैं।
(४) विकथा कभी नहीं करते हैं।

उसी समय उसका मित्र लक्ष्मीकुमार बोला– "वाह मित्र, तुम धन्य हो.......और तुझे ऊँचे संस्कार देनेवाली तेरी माता भी धन्य है। भाई ! मैं भी तुम्हारे साथ इन चार बातों का पालन करूँगा।"

घर के सभीजन भी बोल-उठे –"हम भी इन चार बातों का पालन करेंगे। तुमने हमारे घर को एक शुद्ध जैन का आदर्श घर बना दिया।"

जिनकुमार और लक्ष्मीकुमार आज के प्रसंग से बहुत आनंदित हुए और माताजी से कहा – "माँ, आज हमने आपके प्रताप से आनंदपूर्वक

जन्म-दिवस का उत्सव मनाया, क्योंकि हमारे जन्म-दिवस पर हमें 'चैतन्य-हीरा' मिला है।''

तब माताजी ने दोनों को आशीर्वाद दिया– ''बेटा ! चैतन्य हीरे के प्रकाश के द्वारा तुम दोनों केवलज्ञान प्राप्त करो......तुम दोनों के जन्मदिन पर यही मेरा मंगल आशीर्वाद है।''

माता का उत्तम आशीष लेकर वे दोनों मित्र जिनमंदिर में भगवान के दर्शन करने गये।
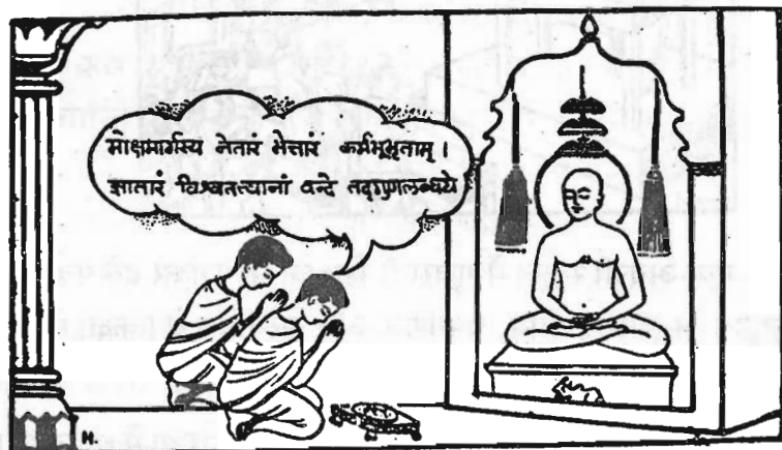
जो जानते महावीर को, चैतन्यमयी शुद्धभाव से।
वे जीव जाने आत्म को, समकित सहित आनंद से।।

जो आत्मा अनुपम है, स्वभाव से सिद्ध है, विकल्प से रहित है, वह मैं हूँ। मेरे लिये दूसरा कोई शरण नहीं है, वह अनुपम परमात्मा ही मेरे लिये शरण है।

शिक्षक और विद्यार्थी

(हृदय-परिवर्तन)

("आज के इस युग में एक-दूसरे की गल्तियों को गौण करके परस्पर वात्सल्य भाव की अत्यंत आवश्यकता है" – इसी भाव को केन्द्रित करके जैन मासिक-कल्याण में श्री विश्वदर्शी ने 'शिक्षक और विद्यार्थी' के सन्दर्भ में एक आदर्श प्रसंग दिया था। उसी प्रसंग का संक्षिप्त सार लेकर यहाँ साधर्मी-प्रेम की चर्चा की जाती है।)
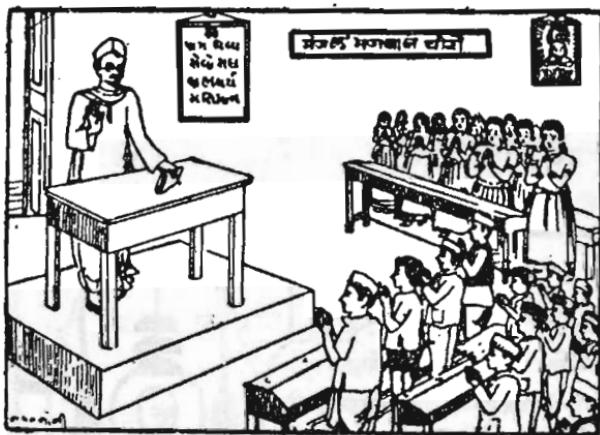
एक अंग्रेजी स्कूल में गुजराती शिक्षक मणिशंकर दवे पढ़ाते थे। दवे साहब अनुशासन-प्रिय, प्रमाणिक और सत्यप्रिय थे। कक्षा में उनके कड़क अनुशासन का अच्छा प्रभाव था।

एक श्रीमंत सेठ का मूर्ख पुत्र तीन वर्ष से एक ही कक्षा में था, बहुत ही शरारती था, वह किसी को भी दो बातें सुना देने में कसर नहीं रखता था।

एक दिन जब दवे साहब पढ़ाने में तल्लीन थे, तब वह विद्यार्थी एक-दूसरे के साथ मजाक करके कक्षा में व्यवधान डाल रहा था। दवे साहब ने देखा और वे उसकी अनुशासन-हीनता को सहन न कर सके तथा कुछ बोले बिना सीधे उसके पास पहुँच गये और सड़ाक.....करके एक तमाचा उसके गाल पर मार दिया।

पूरी कक्षा आश्चर्य-चकित रह गई......वह किसी का थप्पड़ तो क्या, किसी का एक शब्द भी सुन नहीं सकता था। अब वह लड़का क्या करेगा? – यही सब विद्यार्थी उत्सुकता से देख रहे थे। दवे साहब ने उसको बेंच पर खड़े होने की आज्ञा दी, लेकिन.....सभी विद्यार्थी देख ही रहे थे कि.....अब क्या होगा ?.....इतने में ही उस विद्यार्थी ने सामने खड़े दवे साहब के गाल पर एक जोरदार थप्पड़ मार दिया।

दवे साहब का स्वभाव इतना कड़क कि उसके सामने कोई एक शब्द भी नहीं बोल सकता था, लेकिन थप्पड़ के बदले में विद्यार्थी के हमले को देखकर सभी हतप्रभ रह गये।

'अब आगे क्या होगा?' सबका एक ही प्रश्न था। दवे साहब हमले के बदले में क्या उस लड़के को लात मारकर बाहर निकलवा देंगे या क्या करेंगे? लेकिन नहीं, ऐसा कुछ नहीं हुआ। सबने देखा कि दवे साहब शान्ति से टेबल के पास जाकर खड़े हो गये हैं और रूमाल से अपनी भीगी आँखे पोंछ रहे हैं। थोड़ी देर बाद अपने को सम्भालते हुए उन्होंने सभी को सम्बोधित करते हुए शान्ति से कहा–

"प्रिय विद्यार्थियो ! मैंने भी अपने गुरुजी के साथ एकबार ऐसी ही उदण्डता की थी....उस समय हमारे गुरुजी ने मेरी भयंकर भूल का अहसास कराने के लिए हँसते-हँसते मुझे माफ कर दिया था..... उसके बाद से ही मेरी उन्नति हुई। मैं भी अपने प्रिय विद्यार्थी की भूल को माफ करके यह अपेक्षा करता हूँ कि वह अपनी भूल सुधारकर स्कूल का जगमगाता सितारा बनेगा।"

– बस, इतना कहकर वे चुपचाप अपने घर चले गये।

स्कूल की छुट्टी हुई, सभी विद्यार्थी आपस में आज के प्रसंग की ही बातें कर रहे थे, लेकिन वह उद्दण्ड विद्यार्थी तो किसी से बिना बोले चुपचाप अकेला चला जा रहा था। सभी को ऐसा लगा कि अभी भी उसे बदला लिये बिना चैन नहीं पड़ेगा।

वह विद्यार्थी दवे साहब के घर पहुँचा, उसे आया जानकर दवे साहब भी आश्चर्य से उसे देखने लगे......उन्हें लगा कि दोपहर का वह बैर अभी भी अधूरा रह गया होगा, जो अब पूरा करने आया है ? – ऐसा सोचकर दवे साहब ने उसके सामने अपना दूसरा गाल आगे करके कहा– "ले तुझे दूसरा तमाचा मारना है तो खुशी से मार।"

अरे, दवे साहब के इन शब्दों को सुनकर तो वह विद्यार्थी फफक-फफक कर रो पड़ा, उसका हृदय भर आया, आँखों से अश्रु की धारा निकल पड़ी, वह बैर का बदला लेने नहीं आया था, वह तो सचमुच में पश्चाताप से भूल की माफी माँगने आया था। वह दवे साहब के पैर पकड़कर कहने लगा– "साहब मुझे क्षमा करो, मैं अपराधी हूँ। मुझे जो सजा देनी हो, वह दे दीजिये।"

दवे साहब सत्य परिस्थिति को समझ गये......अपने विद्यार्थी का 'हृदय-परिवर्तन' देखकर उनका हृदय खुशी से उछलने लगा। उनकी आँखों में भी आँसू आ गये..... और वात्सल्य से उसकी पीठ पर हाथ फेर कर कहा– "बेटा ! तू तो मेरे से भी बढ़कर निकला। मैंने जिससमय भूल की थी, उस समय मैं अपने गुरु के घर माफी माँगने नहीं गया था, तू तो मुझसे माफी माँगने घर आया है। बेटा, मेरे हृदय में हमेशा तुम्हारा स्थान रहेगा और तुम्हारा यह हृदय-परिवर्तन निश्चित ही तुम्हारे कल्याण का मार्ग प्रशस्त करेगा।"

– ऐसा कहकर उन्होंने उसे मंगल आशीर्वाद दिया।

आशीर्वाद लेकर प्रसन्न-मुख से वह विद्यार्थी अपने घर जाने लगा, तब दवे साहब ने उसे बुलाकर कहा– "बेटा, रुको ! मेरे घर से मुँह मीठा करते जाओ, आज से तुम्हारा नया जीवन शुरू हुआ है।"

– ऐसा कहकर अपने हाथ से उसे मिठाई खिलाई......और गुरु-शिष्य के निर्दोष वात्सल्य-प्रेम की सुगंध से वातावरण महकने लगा।

श्रावक के कर्त्तव्य

एक जैन नगरी में पद्मनन्दि मुनिराज पधारे। एक गृहस्थ ने दर्शन कर उनसे भक्तिभाव पूर्वक पूछा – "हे स्वामी! मैं तो व्यापार-धन्धे आदि अनेक प्रकार के घरेलू पाप-प्रपंचों में पड़ा हूँ; मुझे अपने आत्मा के हित के लिए क्या करना चाहिये ?

तब पद्मनन्दि मुनिराज ने उत्तर देते हुए कहा – "भाई! तुझे बहुत अच्छी भावना जागी है, इसलिए सुन ! तुझे यह मनुष्य जन्म और जैन श्रावक कुल मिला है; अतः इसमें सर्वप्रथम आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझना चाहिये तथा जिनदेव की पूजा, गुरु की उपासना, शास्त्र का स्वाध्याय आदि छह कार्य प्रतिदिन करना चाहिये।"

तब शिष्य ने जिज्ञासापूर्वक पूछा – "हे प्रभो ! आत्मा को समझने के लिए मुझे क्या करना चाहिये ?"

मुनिराज ने कहा – "हे भव्य ! जैनधर्म के वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के स्वरूप को समझकर उनके द्वारा बताये हुए तत्त्वज्ञान का अभ्यास करो और धर्म की भावना के द्वारा अपने परिणाम सुधारो।"

गृहस्थ ने विनय पूर्वक पुनः पूछा – "हे स्वामी ! गृहस्थों को अपने हित के लिए और पापों से बचने के लिए प्रतिदिन छह कार्य करने के लिए अभी आपने कहा है, वे छह कार्य कौन-कौन से हैं ?

पद्मनन्दि स्वामी ने कहा –

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने-दिने ॥

श्लोकार्थ – १. देव-पूजा २. गुरु की उपासना ३. शास्त्र-स्वाध्याय ४. संयम ५. तप और ६. दान। – ये गृहस्थ श्रावक के प्रतिदिन के छह कर्त्तव्य हैं।

१. देवपूजा – पहले तो अपने भगवान अरहंतदेव के स्वरूप को समझकर, प्रतिदिन सुबह मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक उनका दर्शन-पूजन करना चाहिये तथा उनके समान परमात्मपद प्राप्त करने की भावना भानी चाहिये

२. गुरु की उपासना – मोक्ष के साधक मुनिराज तथा ज्ञानी धर्मात्माओं का बहुमान एवं विनय करना चाहिये, उनसे धर्म का उपदेश सुनना चाहिये। मुनि आदि का प्रत्यक्ष योग न हो तो भाव से उनको याद करके उनकी महिमा करना चाहिये, उनके समान बनने की भावना करना चाहिये।

३. शास्त्र-स्वाध्याय – आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए, साथ ही ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि के लिए प्रतिदिन जिनवाणी का स्वाध्याय करना चाहिये। शान्त-चित्त से शास्त्र का विचार करना चाहिये, साधर्मियों के साथ धर्मचर्चा करना चाहिये, सुबह से प्रतिदिन हाथ में लौकिक समाचार पत्र न लेकर, जिनमें परमात्मा के समाचार भरे हैं – ऐसे शास्त्रों को प्रतिदिन सुबह पढ़ना चाहिये।

ऐसा करने से आत्मा में धर्म के उत्तम संस्कार पड़ते हैं।

वाह ! देव-गुरु-शास्त्र की उपासना करने की यह सरस बात सुनकर वह सद्गृहस्थ बहुत प्रसन्न हुआ और प्रतिदिन उक्त तीन कार्य करने का उसने निश्चय किया। वह रात्रि में भोजन तो करता ही नहीं था, आलू, भटा, गोभी, जमीकंद आदि अभक्ष्य वस्तुयें भी नहीं खाता था। अत: उसने मुनिराज से कहा –

"हे स्वामी ! आपके द्वारा बताये देव-पूजा, गुरु की उपासना तथा शास्त्र-स्वाध्याय – ये तीन कर्त्तव्य मैं प्रतिदिन करूँगा। तथा शेष तीन कार्य संयम, तप और दान के स्वरूप को भी आप मुझे समझाने की कृपा करें, उनका भी मैं अपनी शक्ति के अनुसार पालन करूँगा।

'वाह, धन्य हो तुम !' – ऐसा कहकर श्री पद्मनन्दि मुनिराज शेष तीन कार्यों को समझाने लगे –

४-५. संयम और तप – हे वत्स ! विषय-कषाय के पाप भावों से बचने हेतु ब्रह्मचर्य और संयम का पालन तथा उपवास, एकासन आदि बहिरंग तथा प्रायश्चित्तादि अन्तरंग तप करना चाहिये। इस प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार संयम और तप का अभ्यास करना चाहिये।

६. दान – मोह-ममता कम करने के लिए तथा धर्म के प्रति प्रेम बढ़ाने लिए प्रतिदिन अपनी शक्ति के अनुसार दान देना चाहिये।

वह दान चार प्रकार का है –

(१) मुनिराज तथा साधर्मी बंधुओं को भक्तिपूर्वक भोजन कराना ही आहारदान है। प्रतिदिन भोजन करते समय मुनिराज का स्मरण करना चाहिये और यह भावना भानी चाहिये कि 'मुनिराज पधारें तो पहले उनको आहार कराऊँ, फिर मैं स्वयं भोजन करूँ।' इसी प्रकार साधर्मीजनों को भी प्रेम से बुलाकर भोजन कराना चाहिये।

जैसे – राजा श्रेयांस ने मुनिराज ऋषभदेव को आहारदान दिया था, चंदनासती ने मुनिराज महावीर को आहारदान दिया था; उसी प्रकार हमें भी भावना भानी चाहिये।

(२) धर्मात्माओं को वीतरागी शास्त्र भेंट देना, साधर्मियों को शास्त्र पढ़कर सुनाना, आत्महित की बात समझाना, सम्यग्ज्ञान का प्रचार-प्रसार करना – यह ज्ञानदान या शास्त्रदान है। दूसरे सब दानों में यह दान सर्वश्रेष्ठ माना गया है; क्योंकि ज्ञान से जीवों का कल्याण होता है।

दान की यह सरस बात सुनकर वह श्रावक खुश हुआ और दान के शेष दो प्रकार जानने के लिए वह उत्सुक हुआ।

तब मुनिराज आगे कहने लगे –

(३) तीसरा औषधिदान है। मुनि या साधर्मीजन में रोगादि देखकर शरीर से भी योग्य सेवा करना और योग्य औषधि देकर रोग को दूर करना औषधिदान कहलाता है। (ज्ञातव्य है एक जीव ने बन्दर के भव में मुनिराज को औषधिदान दिया था....उसकी बात अगली पुस्तक में कहेंगे।)

(४) चौथा प्रकार अभयदान का है। अपने परिणाम मृदु (कोमल) रखना चाहिये, जिसके निमित्त से कोई दुखी न होवे। कोई साधर्मी जीव किसी प्रकार से भयभीत होवे तो प्रेमपूर्वक उसका भय दूर करे। अरे, पशु-पक्षियों को भी हिंसा से बचाकर अभयदान देना चाहिये। जीवदया के बिना धर्म शोभा नहीं पाता। वीतरागमार्गी श्रावक के जीवन में करुणा होनी चाहिये।

इस प्रकार श्री पद्मनन्दि मुनिराज ने दान के चारों प्रकार समझाकर कहा – "हे भाई! धर्म से प्रेम बढ़ाकर धन की ममता कम कर! विषय-भोगों, खान-पान, विवाह आदि के पाप कार्यों में जैसे तू धन खर्च करता है; वैसे ही जिन पूजन-भक्ति, शास्त्र, मंदिर आदि कार्यों में जैसे बने वैसे अधिक धन खर्च करना चाहिये, यही उत्तम है – ऐसा करने से तुम्हारे पाप धुल जायेंगे और तुम्हारे वीतरागी धर्म के संस्कार से दृढ़ होंगे।"

वाह! श्रावकधर्म के प्रतिदिन के छह कर्त्तव्यों का यह सुन्दर उपदेश सुनकर वह गृहस्थ श्रावक बहुत ही प्रसन्न हआ और सम्यग्दर्शन की भावनापूर्वक वह प्रतिदिन जिनदर्शन-पूजन, गुरु की सेवा, शास्त्र-स्वाध्याय, संयम, तप और दान – ये छह उत्तम कार्य करने लगा। उसका जीवन बहुत ही उच्च बना। परिणाम विशुद्ध हुए और अन्त में सम्यग्दर्शन प्राप्त कर, दूसरी कषाय चौकडी (अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया तथा लोभ) का अभाव कर व्रती श्रावक बना। धन्य है! उस मोक्षमार्गी श्रावक को....।

एक सिंह की आत्मकथा

(मुनिराज के सत्संग का प्रताप)

एकबार मैं माँस-भक्षी सिंह था, उस समय महाभाग्य से मुझे मुनिवरों का समागम मिला....उन मुनिवरों के क्षणिक समागम से मेरा क्रूर परिणाम तुरन्त ही छूटा और परिणाम शान्त हुआ....और उनके उपदेश से आत्मज्ञान प्राप्त करके मैं परमात्म-पंथ का पथिक बन गया.....।

उन मुनिवरों के समागम की अपनी यह सुन्दर कहानी मैं आपको सुनाता हूँ, उसे आप आनन्द से सुनो –

अनादि-अज्ञान के वशीभूत हुआ मैं भटकते-भटकते एकबार ऋषभदेव का पौत्र हुआ, तब भगवान की दिव्यध्वनि में आया कि मैं भविष्य में तीर्थंकर होऊँगा। यह सुनकर मुझे हर्ष के साथ अभिमान पैदा हो गया....अरे रे ! उस समय मेरे दादाजी आदि-तीर्थंकर की धर्मसभा में भी मैंने आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया....और मिथ्यादृष्टि रहकर असंख्य भव धारण कर नरक-निगोद में जाकर दुखी हुआ।

फिर एक बार सुन्दर बगीचे के निमित्त से संसार से विरक्त होकर मैंने आत्मज्ञान प्राप्त किया था। अरे रे ! फिर विषय-कषाय के वश होकर मैं उसे भूल गया और नरक-तिर्यंच गति में चला गया।

अब मैं सिंह हुआ.., एकबार जब जंगल में हिरण को मारकर माँस खाने की तैयारी कर रहा था; तब एकाएक दो सौम्य मुद्राधारी मुनिराजों ने आकाश मार्ग से उतरकर मुझे दर्शन दिये....कैसा अद्भुत था उनका दैदीप्यमान मुख-मण्डल ! उनकी मुद्रा
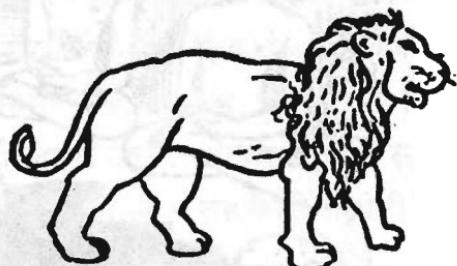
कैसी अपार शान्त !! और निर्भय !!! बस, वे मुझसे बिना डरे शान्त नजर से मुझे वात्सल्यभाव से देख रहे थे। उन्हें देखकर मैं तो मुग्ध हो गया, अहा ! कैसी सुशोभित हो रही थी – उनकी करुणापूर्ण मधुर नजर !!

कौन हैं ये महापुरुष ? किसलिए यहाँ पधारे हैं ? मेरे कोई परम हितैषी लगते हैं। मेरा चित्त उनमें ऐसा स्थिर हो गया कि मैं भूखा था और पास में ही मेरा शिकार – मरा हुआ हिरण पड़ा था, फिर भी मेरी उसे खाने की इच्छा सर्वथा समाप्त हो गयी थी....उस समय मुझे विचार आ रहा था कि अरे, कहाँ मेरी हिंसक वृत्ति ! और कहाँ इन मुनिवरों की परम शान्ति !!....।

उनका साथ मुझे बहुत अच्छा लग रहा था। आश्चर्य दृष्टि से मैंने पूछा – "हे प्रभो ! आप यहाँ क्यों पधारे हो ? आपके पास मुझे महान शान्ति मिल रही है।"

मुनिराज ने वात्सल्यपूर्ण हृदय से मुझे संबोधन किया –

"हे भव्य ! हम भगवान के पास से आ रहे हैं....और तुम्हें आत्मज्ञान प्राप्त कराकर तुम्हारा उद्धार करने के उद्देश्य से ही आये हैं।"

अहो ! कैसी आनंद की बात !! ऐसे महान महात्मा आकाश मार्ग से मेरा उद्धार करने पधारे और वह भी परमेश्वर के पास से ! धन्य भाग्य !! "अब वे मुझसे क्या कहेंगे ?" – यह सुनने के लिए मैं तड़फने लगा। तब उनके श्रीमुख से अमृत की धारा झरने लगी –

"सुनो भव्य ! इस भव से दस भव बाद तुम्हारा ही आत्मा भरतक्षेत्र में तीर्थंकर महावीर बनेगा और वीतरागी-अहिंसा धर्म का उपदेश देकर लाखों-करोड़ों जीवों का कल्याण करेगा।"

"अरे, मैं यह क्या सुन रहा हूँ। मैं तीर्थंकर बनूँगा ! अरे, मेरा यह माँसाहार का परिणाम शोभा नहीं देता। मैं यह क्या कर रहा हूँ !" – इस प्रकार मैं पश्चाताप करने लगा।

तब मुनिराज ने मुझे आश्वासनपूर्वक कहा – "हे वत्स ! भूतकाल तो बीत गया....अब उसकी चिंता छोड़ो....ये माँस-भक्षणादि पाप भावों को सर्वथा छोड़ो....तुम्हारा आत्मा राग से भिन्न ज्ञानस्वरूपी है और उसमें ही शान्ति है, उसे तुम जानो....और अपने में शान्ति का अनुभव करो !"

बस, यह सुनकर मैं तो अन्दर आत्मस्वरूप के विचार में खो गया, कैसा है आत्मा ? राग से भिन्न, हिंसा के भाव से भिन्न, शान्त-शान्त....ऐसे आत्मा में कितना आनंद होगा ! मैं उसे अन्दर देखने का उद्यम करने लगा।

मुनिराज का साथ मुझे बहुत उत्साह जागृत करा रहा था और उनका शान्तस्वरूप मुझे मेरे आत्मस्वरूप की प्रतीति उत्पन्न करा रहा था। मुनिवरों के क्षणभर के समागम से ही मेरे परिणाम में कोई आश्चर्यजनक महान परिवर्तन हो रहा था....। मुनिराज ने मुझे आत्मज्ञान कराने के लिए बहुत प्रेम से कहा – "हे भव्य ! अन्दर में देख....आत्मा कितनी सुन्दर वस्तु है ! स्व से एकत्वरूप और पर से विभक्तरूप वह कैसी शोभती है ! उसमें चैतन्यसुख का खजाना भरा हुआ है।"

मैंने अपने अन्दर देखा – "अहो, अद्भुत ! आश्चर्यकारी !!

जिसे देखकर मेरी खुशी का पार नहीं रहा....बस ! अपनी आत्मा को देखते ही मेरा अज्ञान दूर हो गया। आत्मा के शान्तरस के स्वाद से महान तृप्ति हुई....क्रूर कषाय परिणाम से आत्मा भिन्न हो गया....और कषाय से भिन्न शान्त परमात्म-तत्त्व को जानकर, मैं भी परमात्म-पंथ का पथिक बन गया। इसके बाद आत्म-साधना करते-करते दस भव बाद मैं तीर्थंकर महावीर बनूँगा।"

इसप्रकार मुनिवरों के क्षणिक समागम से मुझे जो महान आत्मलाभ हुआ, उसकी यह सुन्दर बात सुनकर हे साधर्मी मित्रो ! तुम भी ज्ञानियों का, मुनिराजों का सत्संग करो और आत्मलाभ प्राप्त करो....।

चैतन्य -दर्पण

एक बहुत सुन्दर स्वच्छ दर्पण है...... परन्तु उसके ऊपर गारा पोतकर कोई देखे तो क्या उसे दर्पण में अपना मुँह दिखाई देगा ?

नहीं।

अच्छा, दर्पण पर गारा के बदले चन्दन का लेप पोतकर कोई देखे तो क्या उसे अपना मुँह दिखाई देगा ?

नहीं....नहीं। गारा या चन्दन दोनों लेप हैं, आवरण हैं, उन दोनों से रहित शुद्ध दर्पण में कोई देखे तो ही उसका मुँह दिखाई देगा।

बिल्कुल ठीक, इसीप्रकार अपना आत्मा जगत को प्रकाशित करनेवाला स्वच्छ चैतन्य दर्पण है, उस पर पाप का गारा पोतकर कोई देखे तो उसे अपना सच्चा स्वरूप दिखाई नहीं देगा। चैतन्य-दर्पण पर पाप के बदले पुण्य भाव का लेप लगाकर कोई देखे तो उसे भी आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं दिखेगा।

पाप-पुण्य – ये दोनों लेप हैं, आवरण हैं, इन दोनों से रहित स्वच्छ चैतन्य-दर्पण में देखने पर ही अपना सच्चा स्वरूप दिखाई देगा ।

एक मूर्ख...फिर बुद्धिमान बन गया
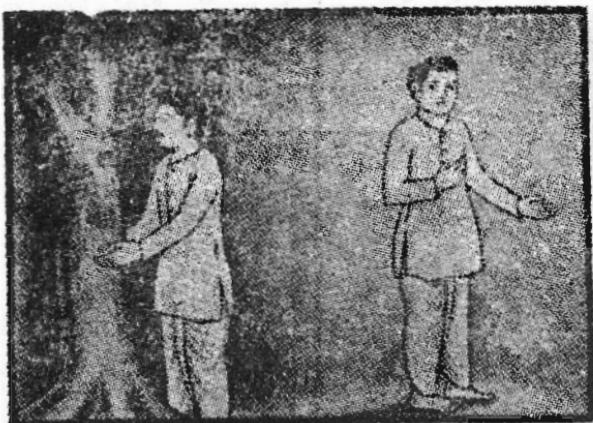
एक बुद्धिमान बालक....मूर्ख बन गया।

वह रात्रि के अँधेरे में मनुष्य जैसा आकार देखकर उसके साथ बातें करने लगा और उसी के साथ प्रेम करने लगा। लेकिन वह आपस में बातचीत नहीं करता था तो वह बालक खीजता था....दुखी होता था....इस प्रकार वह सारी रात राग-द्वेष करके दुखी हुआ।

उसी प्रकार ज्ञानस्वरूपी आत्मा....अज्ञानी बन गया।

अज्ञान के कारण वह जड़-शरीर को अपना मानकर, शरीर के सुख में मैं सुखी और उसके दुख में मैं दुखी। मैं बोलता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं पैदा होता हूँ, मैं मरता हूँ – इस प्रकार शरीर की चेष्टा को ही अपनी मानकर वह दुखी होता है।

फिर क्या हुआ ? ....फिर, वही बुद्धिमान बन गया।

प्रात:काल थोड़ा प्रकाश हुआ और किसी ने उस बालक को समझाया – "अरे मूर्ख ! यहाँ कहाँ है मनुष्य ? यह तो वृक्ष का ठूँठ है।"

बस, ज्ञान होते ही वह बुद्धिमान बालक समझ गया –

"अरे ! इस वृक्ष के ठूँठ को मनुष्य समझकर मैंने अबतक अपनी मूर्खता से व्यर्थ ही पूरी रात इसके साथ राग-द्वेष करने में बर्बाद कर दी।"
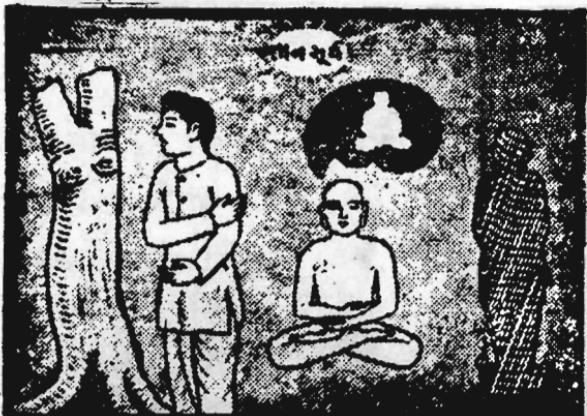
उसी प्रकार अज्ञानी जीव को ज्ञानसूर्य उदित होते ही आत्मा का भान हुआ – "अरे ! यह शरीर तो जड़ है, मैं चेतन हूँ; शरीर की खाने-पीने-बोलने आदि की चेष्टा को अपनी मानकर, उसमें राग-द्वेष करके, अपने स्वरूप को न पहिचानकर मैं अभी तक बहुत दुखी हुआ।"

इस प्रकार देह से भिन्न अपने को चैतन्यस्वरूप जानकर, चैतन्यमय चेष्टा के द्वारा वह जीव सुखी हुआ। अतः अज्ञान से जीव दुखी होता है और स्व-पर भेदविज्ञान से जीव सुखी होता है।

(समाधिशतक, दोहा २१-२२ पर आधारित)

मोहनिद्रा में सोनेवाला जीव, देहादिक के संयोग-वियोग में स्वप्न की भाँति ऐसा मानता है कि 'मैं मरा, मैं जीवित हुआ, मैं मनुष्य हो गया, मैं तिर्यंच हो गया' –ऐसी मान्यता से वह बहुत दुःखी होता है। जब ज्ञानियों ने उसे जगाया/समझाया और जड़-चेतन की भिन्नता बताई। तब जागते ही उसे यह भान हुआ कि ***"अरे ! मैं तो अविनाशी चैतन्य हूँ और यह शरीर तो जड़ है। मैं उस जैसा नहीं हूँ, शरीर के संयोग-वियोग से मेरा जन्म-मरण नहीं होता।"***

हमारे प्रकाशन

१.	चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी)	५०/-
	[५२८ पृष्ठीय प्रथमानुयोग का अद्वितीय सचित्र ग्रंथ]	
२.	चौबीस तीर्थंकर महापुराण (गुजराती)	४०/-
	[४८३ पृष्ठीय प्रथमानुयोग का अद्वितीय सचित्र ग्रंथ]	
३.	जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १)	७/-
४.	जैनधर्म की कहानियाँ (भाग २)	७/-
५.	जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ३)	७/-
	(उक्त तीनों भागों में छोटी-छोटी कहानियों का अनुपम संग्रह है।)	
६.	जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ४) **महासती अंजना**	७/-
७.	जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ५) **हनुमान चरित्र**	७/-
८.	जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ६)	७/-
	(अकलंक-निकलंक चरित्र)	
९.	जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ७)	१२/-
	(अनुबद्धकेवली श्री जम्बूस्वामी)	
१०.	जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ८)	७/-
	(श्रावक की धर्मसाधना)	
११.	जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ९)	१०/-
	(तीर्थंकर भगवान महावीर)	
१२.	जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १०) **कहानी संग्रह**	७/-
१३.	जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ११) **कहानी संग्रह**	७/-
१४.	जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १२) **कहानी संग्रह**	७/-
१५.	जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १३) **कहानी संग्रह**	
१६.	जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १४) **कहानी संग्रह**	७/-
१७.	अनुपम संकलन (लघु जिनवाणी संग्रह)	६/-
१८.	पाहुड़-दोहा, भव्यामृत-शतक व आत्मसाधना सूत्र	५/-
१९.	विराग सरिता **(श्रीमद्जी की सूक्तियों का संकलन)**	५/-
२०.	लघुतत्त्वस्फोट (गुजराती)	
२१.	भक्तामर प्रवचन (गुजराती)	

जन्म
वीर संवत् 2451
पौष सुदी पूनम
जैतपुर (मोरबी)

देहविलय
8 दिसम्बर, 1987
पौष वदी 3, सोनगढ़
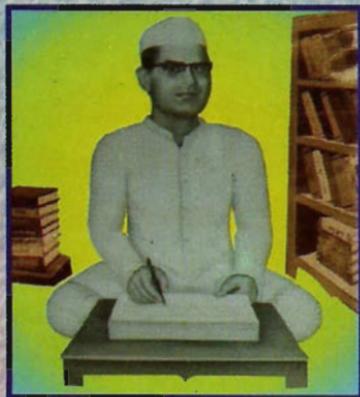
सतसमागम
वीर संवत् 2471
(पूज्य गुरुदेव श्री से)
राजकोट

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा
वीर संवत् 2473
फागण सुदी 1 (उम्र 23 वर्ष)

ब्र. हरिलाल अमृतलाल मेहता

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के अंतेवासी शिष्य, शूरवीर साधक, सिद्धहस्त, आध्यात्मिक, साहित्यकार **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन** की 19 वर्ष में ही उत्कृष्ट लेखन प्रतिभा को देखकर वे सोनगढ़ से निकलने वाले आध्यात्मिक मासिक **आत्मधर्म** (गुजराती व हिन्दी) के सम्पादक बना दिये गये, जिसे उन्होंने 32 वर्ष तक अविरत संभाला। पूज्य स्वामीजी स्वयं अनेक बार उनकी प्रशंसा मुक्त कण्ठ से इसप्रकार करते थे –

''मैं जो भाव कहता हूँ, उसे बराबर ग्रहण करके लिखते हैं, हिन्दुस्तान में दीपक लेकर ढूँढने जावें तो भी ऐसा लिखनेवाला नहीं मिलेगा....।''

आपने अपने जीवन में करीब 150 पुस्तकों का लेखन/सम्पादन किया है। आपने बच्चों के लिए **जैन बालपोथी** के जो दो भाग लिखे हैं, वे लाखों की संख्या में प्रकाशित हो चुके हैं। अपने समग्र जीवन की अनुपम कृति **चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों का महापुराण** – इसे आपने 80 पुराणों एवं 60 ग्रन्थों का आधार लेकर बनाया है। आपकी रचनाओं में प्रमुखतः आत्म-प्रसिद्धि, भगवती आराधना, आत्म वैभव, नय प्रज्ञापन, वीतराग-विज्ञान (छहढ़ाला प्रवचन, भाग 1 से 6), सम्यग्दर्शन (भाग 1 से 8), जैनधर्म की कहानियाँ (भाग 1 से 6), अध्यात्म-संदेश, भक्तामर स्तोत्र प्रवचन, अनुभव-प्रकाश प्रवचन, ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव, श्रावकधर्मप्रकाश, मुक्ति का मार्ग, अकलंक-निकलंक (नाटक), मंगल तीर्थयात्रा, भगवान ऋषभदेव, भगवान पार्श्वनाथ, भगवान हनुमान, दर्शनकथा, महासती अंजना आदि हैं।

2500वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर किये कार्यों के उपलक्ष्य में, जैन बालपोथी एवं आत्मधर्म सम्पादन इत्यादि कार्यों पर अनेक बार आपको स्वर्ण-चन्द्रिकाओं द्वारा सम्मानित किया गया है।

जीवन के अन्तिम समय में आत्म-स्वरूप का घोलन करते हुए समाधि पूर्वक **''मैं ज्ञायक हूँ....मैं ज्ञायक हूँ''** की धुन बोलते हुए इस भव्यात्मा का देह विलय हुआ – यह उनकी अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता थी।

मुद्रण व्यवस्था : जैन कम्प्यूटर्स, जयपुर फोन : 0141-700751 फैक्स : 0141-519265